नरेश चन्द्र चतुर्वेदी

साहित्य-चिन्तन

साहित्यायन, कानपुर

साहित्य-चिन्तन

प्रस्तुत कृति नई पीढ़ी के सक्षम समीक्षक श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी की नव्यतम रचना है। इसमें लेखक द्वारा समय-समय पर लिखे गए विचारात्मक और समीक्षात्मक निबन्ध संकलित किए गए हैं।

श्री चतुर्वेदीजी अपने गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान, स्पष्ट चिन्तन और विश्लेषण तथा निर्भीक निर्णय और समीक्षा, के लिए अपनी पूर्व प्रकाशित कृति 'हिन्दी-साहित्य का विकास और कानपुर' से ही सुपरिचित हो चुके हैं। उनकी इस नवीन कृति में साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण, विवादास्पद और जटिल प्रश्नों पर तटस्थ दृष्टि से विचार किया गया है, युग-प्रवर्तक विशिष्ट साहित्यिक कृतियों का समीक्षात्मक आकलन किया गया है, प्रमुख नए गीतकारों की काव्योपलब्धियों पर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन किया गया है।

आधुनिक साहित्य के गम्भीर पाठकों के लिए यह पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

मूल्य

रु० ५-५० नए पैसे


प्रत्यूष
प्रकाशन


प्रत्यूष
प्रकाशन


प्रत्यूष
प्रकाशन


प्रत्यूष
प्रकाशन


प्रत्यूष
प्रकाशन



साहित्य-चिन्तन

[विचारात्मक तथा समीक्षात्मक निबन्ध-संग्रह]

श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

[सम्पादक- त्रैमासिक 'साहित्यालोचन']

प्रकाशक

'साहित्यायन', कानपुर

[साहित्यिक नवचेतना की प्रतिनिधि संस्था]

मुख्य वितरक

प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर

प्रकाशक : प्रकाशन-विभाग, 'साहित्यायन', कानपुर
प्रमुख वितरक : प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर
प्रकाशन काल : १९६३
मुद्रक : अनुपम प्रेस, चन्द्रिका देवी रोड, कानपुर
मूल्य : पाँच रुपये पचास नये पैसे

पूज्य चरण माता जी

को

विषयानुक्रमणिका

दो शब्द

लीजिए, यह मेरे स्फुट निबन्धों का संग्रह साहित्य-चिंतन ! इसमें समय समय पर लिखे गये मेरे विचारात्मक तथा समीक्षात्मक निबन्धों में से नौ निबन्ध संगृहीत हैं। संग्रह-कार्य में किसी क्रम का ध्यान नहीं रक्खा गया है; उसकी आवश्यकता भी नहीं थी। मित्रों का अनुरोध हुआ कि कुछ शब्द भूमिका के भी लिखूं। वैसे इन निबन्धों को संभवत: किसी भूमिका की अपेक्षा नहीं है; फिर भी यदि लिखना है, तो यह बता देना आवश्यक है कि प्रस्तुत संग्रह के कई निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं और शेष अप्रकाशित प्रथमत: इस संग्रह में छपे हैं।

जिस प्रकार साहित्य सृजन की मान्यताएँ एक नहीं अनेक हैं, उसी प्रकार साहित्य-चिन्तन की प्रणाली भी कोई एक सर्वमान्य नहीं है। अपनी-अपनी दृष्टि, अपनी-अपनी सामर्थ्य। परन्तु कुछ ऐसे तत्व अवश्य हैं जिनकी उपेक्षा न सर्जक कर सकता है, न समीक्षक। इनमें एक प्रमुख तत्व है सर्जक की अपनी प्रतिभा, जिसे कलाकार की विशिष्टता के रूप में स्वीकार किया जाता है, और दूसरा, उसकी कृति में व्याप्त दृष्टिकोण, जो सामाजिक उपयोगिता के संदर्भ में लोक-ग्राह्य बनता है। समीक्षक को भी कुछ इसी भांति चलना होता है। एक ओर उसे कृति पर विचार करते हुए कलाकार की चेतना तथा उसके सौन्दर्य-बोध को देखना पड़ता है तथा दूसरी ओर कृति को लोक-जीवन के परिप्रेक्ष्य में रखकर मूल्यांकन करना होता है। प्रत्येक युग की कोई भी सुन्दर रचना पूर्व परम्परा के चौखटे के बाहर निकल कर कुछ नव्यतम बनकर आती है। इसी प्रकार मात्र परम्परागत सिद्धांतों को आधार मान कर की गई आलोचना भी कृति और कृतिकार के साथ न्याय नहीं कर पाती।

जैसे कलाकार अपने 'स्व' का पूर्णत: विसर्जन नहीं कर पाता, वैसे ही समीक्षक तटस्थ रह कर भी सर्वांशत: निरपेक्ष नहीं हो जाता। प्रतिभा, सृजन-

कर्त्ता के लिए जितनी आवश्यक होती है, उतनी ही समीक्षक के लिए भी। प्रतिभा अपने में स्वयं इतना बड़ा तत्व है, जिसके समक्ष कभी-कभी सभी नियम व्यर्थ से हो जाते हैं। प्राय: देखा जाता है कि महान प्रतिभा समाज के सभी बन्धनों को अस्वीकार कर दिया करती है। या कहें कि समाज की निर्बल शृंखला प्रतिभा के वेग को बाँधने में असमर्थ होती है। प्रतिभा का प्रचंड वेग ही वामन को वलि से श्रेष्ठ और शुकदेव को व्यास से लोकोत्तर बना देता है। प्रतिभा की यही प्रचंडता चाणक्य को चन्द्रगुप्त से, कालिदास को विक्रमादित्य से, तानसेन को अकबर से, महात्मा गाँधी को सम्राट पंचमजार्ज से, और निराला को नेहरू से ऊपर उठा दिया करती है।

अनश्वर प्रतिभा कब, कहाँ, कैसे जन्म ले लेती है—इसका ज्ञान भी नश्वर प्राणी को सहज ही नहीं हो पाता। प्रतिभा का प्रवाह प्रकृति के उन शीतल तथा नाद-पूर्ण झरनों के ही समान है जो दुर्लंघ्य शिखरों के कठोर शिलाखंडों के अन्तस् को फोड़ कर स्वयं प्रवाहित होता है।

साहित्यकार, प्रतिभा से प्रकाशित होता है, अध्ययन और अनुभव से परिष्कृत तथा परिश्रम से कृती बनता है। संभवत: इसीलिए वाणी के वरद पुत्र हृदय में कलुष नहीं रखते। सरस्वती के साधक ईर्ष्या—द्वेष की आग में जला नहीं करते।

प्रतिभा किसी की वन्दिनी नहीं होती और परिश्रम किसी के द्वार का याचक नहीं होता।

अस्तु, कृति में निहित कलात्मक सौंदर्य और वैयक्तिक विशिष्टता को देखना समीक्षक के लिए आवश्यक हो जाता है, और परखने के लिए सामाजिक उपयोगिता की कसौटी अनिवार्य हो जाती है। मेरे विचार से किसी भी कृति में कलात्मक सौंदर्य का स्थान सर्वोपरि होता है; परन्तु यदि वह लोकरंजन तथा

लोकमंगल की भावना से पूर्णत: अलग हो, तो उसे मूल्यवान नहीं माना जाना चाहिये; क्योंकि साहित्यिक कृतियाँ किन्हीं पागलों का प्रलाप नहीं हुआ करतीं और न ही वे अगाध ज्ञान मंडित, लोकोत्तर चेतना के व्रती, रस शून्य, शुष्क हृदय, योग-साधकों की वाणी होती हैं। वस्तुत: किसी भी साहित्यिक कृति की रसवत्ता उसकी मूलनिधि और लोकरंजन तथा लोकमंगल की भावना उसकी सिद्धि हुआ करती है। मेरे इन निबन्धों में साहित्य-चिंतन की यदि यही दिशा लक्षित हो, तो अनुचित क्या ?

पुस्तक का नामकरण, निबन्धों का संग्रह तथा प्रकाशन की व्यवस्था के लिए मैं अपने प्रिय मित्र तथा समाज शास्त्र के ख्यातनामा लेखक श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी को धन्यवाद देता हूँ; क्योंकि उनकी तत्परता के अभाव में यह संग्रह तैयार करके प्रकाशित करा देना मेरे जैसे बहुधन्धी व्यक्ति के लिए नितांत कठिन था। शीघ्रता तथा सुरुचिपूर्ण ढंग से इसे प्रकाशित करने के लिए मैं अनुपम प्रेस के स्वामी श्री रामकुमार मिश्र तथा प्रबन्धक श्री बसंत कपूर को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिनकी व्यक्तिगत रुचि ने ही इसे सुन्दर बनाया है। अधिकांश निबन्धों का प्रूफ स्वयं न देख पाने के कारण कहीं कहीं अशुद्धियां रह गई हैं, उनका मुझे बहुत खेद है। अपनी भूलों के लिए क्षमा प्रार्थी होकर आशा करता हूँ कि मेरी पूर्वकृति की भांति इसे भी हिंदी जगत प्रेम पूर्वक अपनाएगा। यदि इससे साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों तथा सुधी पाठकों को कुछ भी लाभ हुआ, तो अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।

'साहित्यालोचन' कार्यालय
कानपुर
१ फरवरी, १९६३

नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

अलं महीपाल तवश्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथास्यात् ।
न पादपोन्मूलन शक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ।।

–रघुवंश, द्वितीय सर्ग–३४

(राजन् ! तुम मुझे मारने का प्रयत्न मत करो; क्योंकि मुझ पर तुम जो भी अस्त्र चलाओगे, व्यर्थ जायेगा । देखो, वायु का जो वेग वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकने की शक्ति रखता है, वह पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ।)

साहित्य-चिन्तन

साहित्य और इतिहास

समाज का जितना घनिष्ट संबन्ध साहित्य से है उतना ही इतिहास से। समाज की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया साहित्य पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहती और इतिहास में उसका वर्णन, विश्लेषण आवश्यक होता है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने समाज का जीता जागता चित्र होता है। एक ओर समाज की क्रियायें साहित्य को प्रभावित करती हैं तो दूसरी ओर समाज के नव निर्माण में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कोई भी विचार-धारा सब लोगों में, एक साथ ही प्रवेश नहीं पा जाती। क्योंकि समाज की प्रत्येक इकाई में यह शक्ति और सामर्थ्य नहीं हुआ करती कि वह भविष्य की आवश्यकता को समझे या उसके लिये स्वयं जागरूक होकर पूरे समाज को उस ओर प्रेरित करे। परन्तु समाज की इकाई के रूप में कुछ न कुछ ऐसे तत्वदर्शी व्यक्ति सदैव होते हैं. जिनकी दृष्टि काल पर रहा करती है और अविराम घूमते हुए कालचक्र की गति का अध्ययन-मनन करना जिनका प्रमुख कार्य होता है।

राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि के माध्यम से इस कालगति को और भी तीव्रता मिलती है। यद्यपि इन सभी माध्यमों से समाज का विकास होता है और परिस्थिति के अनुसार माध्यम विशेष को महत्व प्राप्त होता है; तथापि साहित्य का माध्यम एक ऐसा माध्यम है जो समाज को मानसिक दृष्टि से भावी भूमिका के लिए तैयार करता है। समाज की आवश्यकता और उसकी संपूर्ति के लिए वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री इत्यादि तो काम करते ही हैं, परन्तु साहित्यकार जिस बहुमुखी दृष्टि से समाज के लिए कार्य करता है वह सभी से अपनी विशिष्टता रखता है साहित्य ही एक ऐसा माध्यम है। जिसमें समाज की

चेतन-अचेतन, सुन्दर-असुन्दर, यथार्थ-कल्पना, व्यक्तिगत-समूहगत भावनाओं का सम्यक चित्रण हुआ करता है । इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण (मिरर आफ सोसायटी) कहा जाता है तथा साहित्यकार को सृष्टा और दृष्टा की संज्ञा से विभूषित किया जाता है ।

साहित्यकार अपने युग का नेता इस माने में हुआ करता है कि वह भूत काल के प्रति श्रद्धायुक्त, वर्तमान के प्रति सतत जागरूक और भविष्य के प्रति पूर्ण आस्थावान रह कर समाज के विकासक्रम को बनाये रखने में योग देता है । साहित्यकार के इंगितनिर्देश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में मानव जीवन को नई दिशा, नया मोड़, नई विचारपद्धति प्रदान करके व्यावहारिक क्षेत्र में कर्तव्य करने की प्रेरणा तथा शक्ति प्रदान करते हैं । समाज की दशा का चित्रण साहित्य के विभिन्न अंगों में सदैव ही देखने को मिल सकता है । किसी भी युग के प्रतिनिधि कलाकारों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करके यह पता लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज क्या था और उसके प्रति कलाकार का क्या दृष्टिकोण था ? परन्तु, वैसा क्यों था; यह बताना इतिहास का कार्य है ।

साहित्य वर्तमान को सामने रख कर, भविष्य की रूपरेखा बनाता है और इतिहास भूतकाल की घटनाओं, उनके कारण, कालगत प्रवृत्तियों के आकलन तथा उनके सम्यक विवेचन के द्वारा वर्तमान के लिए ऐसी जानकारी प्रस्तुत करता है, जिसके आलोक में भविष्य का मार्ग चुनने में सहायता मिलती हैं । जीवन की एक-एक अनुभूति, क्रिया और प्रतिक्रिया, साहित्य रूपी माला में मनकों की भांति गुथी रहती है और उस माला के मनकों पर हाथ रखते हुए जब हम काल-क्रम से आगे बढ़ते हैं तब साहित्य के उस पहलू तक पहुंच जाते हैं जहां साहित्य इतिहास का रूप ग्रहण कर लेता है ।

इतिहास की सीमा क्या है ? इस प्रश्न पर यदि हम विचार करें तो कहना पड़ेगा कि अब तक इतिहास का जो दृष्टिकोण रहा, वह आज के युग में

अपनी वैज्ञानिता खो चुका है । हमारे लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि जिन लोगों ने इतिहासलेखन का कार्य किया उनमें से अधिकांश लोगों की विचार-धारा वैज्ञानिकता के बजाय, परम्परागत दृष्टिकोण से प्रभावित रही । इसके कारण वे इतिहास की घटनाओं को न तो ऐतिहासिक संदर्भ में देख सके और न तथ्यों को सही ढंग से प्रस्तुत कर सके । देश, धर्म, जाति, रंग इत्यादि के काम्प्लेक्स के शिकार होकर जिन लोगों ने इतिहास लिखे, उनका महत्व तिथियों व्यक्तियों, तथा घटनाओं की सूची बना देने की दृष्टि से भले ही हो, उनमें इति-हास की अन्तर्भेदी दृष्टि का अभाव रहा है । मुस्लिम तथा अंग्रेज इतिहास लेखकों की कृतियों में ही हमारे देश के सबंध में इस प्रकार की त्रुटियाँ मिलती हों इतना ही नहीं, अपने देश में भी ऐसे इतिहास लेखकों की संख्या कम नहीं है जिनकी दृष्टि, स्पष्टत: स्वतंत्र मान्यता तथा आधारभूत तथ्यों को लेकर चली हो । आज के जटिल जीवन और ज्ञानपिपासा की उत्कृष्टता ने जिस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ाया है उसमें संभवत: यह बताने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्ति और समाज के परिवर्तन में कोई एक घटना, व्यक्ति अथवा विचार कारण नहीं होता, बल्कि उसके समकालीन वे सारी चीजें और प्रभाव होते हैं जो समाज में व्याप्त हुआ करते हैं । सम्पूर्ण परि-स्थिति का दबाव ही समाज को बदलता हैं । अत: समाज को बदलने वाली परिस्थितियां तथा कारणों पर विचार करना इतिहास का प्रमुख कार्य हो जाता है ।

अतीत सभी को मोहक लगता है । मानवसमाज की यह विशेषता है कि उसे अपने पूर्वकाल को सुनने, समझने की आकांक्षा होती है और इस इच्छा की पूर्ति भी इतिहास करता है ।

मानव मन की यह भी विशेषता है कि वह जीवन की गहराई तक जाकर उसके संबन्ध में अधिक से अधिक जान कर अपने ज्ञान की भूख मिटाना चाहता है । जहाँ तक बुद्धि पहुँच सकती है, यथार्थ और कल्पना के यान पर

चढ़ कर पहुँचता है और उसके बाद भी कुछ और जानने की अभिलाषा उसके मन में शेष रहती है ।

काल का अविराम संचरण जितना नूतन होता है; मनुष्य की बुद्धि भी उतनी ही जिज्ञासु । काल पर अवस्थित मानव की विकास एवं ह्रास-कथा का लेखा-जोखा हमें इतिहास में ही मिलता है । उसके तथ्यों का ज्ञान कराना इतिहास का काम है । इतिहास में तथ्यों को परिवर्तित करने की सामर्थ्य नहीं होती, परन्तु सृजनात्मक साहित्य पर इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं होता । इतिहास के लिए तथ्य अनिवार्य हैं; परन्तु तथ्यों का संग्रह इतिहास नहीं । साहित्यिक इतिहास पर भी यही बात लागू होती है । किन्हीं लेखक, उपन्यासकार अथवा कवि विशेष के नाम, जन्म-मृत्यु, रचनाओं के नाम और उदाहरण, साहित्यिक इतिहास में अपेक्षित तो हैं; परन्तु इतना कर देने मात्र से साहित्यिक इतिहासलेखन का कार्य पूरा नहीं हो जाता । आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है । वह वस्तुतः अनादि कालप्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान जीवित मानव समाज की ही विकास-कथा है । ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कवि और काव्य, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं । वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य हैं मनुष्य । जो प्राणधारा नाना अनुकूल प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं ।" डा० ताराचन्द का कथन भी दृष्टव्य है—"इतिहास का विकास न केवल राज है, न केवल समाज, न केवल आर्थिक संगठन । व्यवसाय और वाणिज्य यह सब है और इन सबसे आगे है नीति और धर्म । इतिहास का काम है आदमी के पूरे अनुभव और उसकी सभी उद्भावनाओं की जाँच ।" वस्तुतः इतिहास ही नहीं; साहित्य की जीवंतधारा भी समाज से प्रवाहित होती है और समाज की दृष्टि में नव आलोक साहित्य भरता है । समाज अथवा व्यक्ति कोई जड़ पदार्थ नहीं हैं ।

वे चेतन हैं—मानव विकास और ह्रास के प्रतिनिधि ! गुण-अवगुण के पुतले ! शक्ति के पुंज और दुर्बलता के प्रतीक !!

साहित्य और उसके इतिहास में मनुष्य को इसी दृष्टि से देखना आवश्यक है। साहित्यिक इतिहासों की लम्बी सूची में अभी उस दृष्टिकोण का अभाव ही है जिसकी चर्चा हमने ऊपर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में की है। हमने यह भी कहा है कि समाज को बदलने का उपक्रम किसी एक घटना, विचार अथवा व्यक्ति से नहीं हो जाया करता। समाज परिवर्तन की प्रक्रिया अनेक विचारों के संघर्ष, घटनाओं के घटित होने और वातावरण की अनुकूलता प्रतिकूलता पर निर्भर करता है। व्यक्ति विशेष की सामर्थ्य भी इसमें संभव है, परन्तु उसकी व्यापकता काल और समाज सापेक्ष्य है। उदाहरण के लिये आधुनिक युग का इतिहास लिखते हुए जहाँ गाँधी जी की आध्यात्मिक भावनाओं पर समकालीन भारतीय जन-जीवन की विसंगतियों को समझना होगा, वहाँ उनके अहिंसात्मक आन्दोलन और द्वितीय विश्व युद्ध से संसार भर में युद्ध के प्रति फैली वितृष्णा की भावना को भी पहचानना होगा। देश की स्वाधीनता में महात्मा जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रमुख स्थान अवश्य है; परन्तु सशस्त्र क्रांतिकारियों के पचास वर्ष के प्रयत्न भी प्रभावशून्य नहीं हैं। इसी कालावधि में एशिया भर में मुक्तिसंघर्ष की जो भूमिका साधी जाने लगी थी उसका प्रभाव भी सम्मिलित करना होगा। देश के औद्योगीकरण से यदि आर्थिक ढाँचे में कुछ परिवर्तन हुआ है तो यह भी देखना होगा कि उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ा है। राजनीतिज्ञों के समाजवादी जीवनदर्शन की घोषणा ने देशवासियों के ऊपर कितनी सफलता और विफलता प्राप्त की ?

कोई भी समस्या, फिर वह चाहे राष्ट्रीय स्तर पर हो अथवा रंग-भेद, समाज, धर्म और सम्प्रदाय-स्तर की हो। सभी पर विश्व की मानवचेतना का प्रभाव पड़ रहा है। यह इस शताब्दी का ही गुण है। इस प्रभाव से न साहित्य मुक्त हो सकता है न इतिहास।

यह कहा जा सकता है कि जैसे साहित्यिक मूल्यांकन के लिए अन्तश्चेतना और सामाजिक भावनाओं का बोध आवश्यक है; वैसे ही इतिहास के लिए सामाजिक घटनाएँ और उसकी प्रवृत्तियाँ। साहित्य में व्यक्ति और समाज की आत्मा का निवास होता है और इतिहास में उसके शरीर का गठन। विज्ञान दोनों में से किसी एक का भी अधिपति नहीं है, परन्तु उसकी वस्तु सापेक्ष्यता असंदिग्ध रूप से दोनों को प्रभावित करती है। संक्षेप में साहित्य, व्यक्ति और समाज की चेतना को प्रतिबिम्वित और इतिहास उसकी वाह्य सीमाओं, तत्संबंधी घटनाओं तथा तथ्यों का आकलन और विश्लेषण करता है।

———

मानवतावाद और हिन्दी-कविता

आजकल साहित्य-क्षेत्र में प्रायः जनवाद और मानवतावाद का उल्लेख करते हुए विद्वान लोग दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में कर देते हैं। यद्यपि जनवाद और मानवतावाद शब्द में अभिन्नता-सी मालूम होती है, यद्यपि दोनों में निहित भावनामूलक अर्थ भिन्न हैं। पुराने शब्दों में कहें तो जनवाद 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की भावना को लेकर चलता है, और मानवतावाद 'सर्वभूतहितेरताः' का लक्ष्य सामने रखता है। आधुनिक साहित्य में जनवाद का उदय राजनैतिक जागरण की देन है, जबकि मानवतावाद सांस्कृतिक चेतना का विकास है। जनवाद सफलता की सीढ़ी पर है और मानवतावाद का परीक्षण हो रहा है। जनवाद एक वृहद् समूह की भौतिक इच्छाओं एवं क्रियाओं को मान्यता देता है और मानवतावाद व्यक्ति को भौतिक सुख के अतिरिक्त क्षुद्र जागतिक सीमा से ऊपर उठकर अपनी प्राकृतिक महत्ता तथा स्वयं के सम्पूर्ण विकास में विश्वास रखता है। दार्शनिक पहलू से देखें तो जनवाद और भौतिकवाद से युक्त समूह सुख पर जगह देता है और मानवतावाद उससे आगे बढ़कर आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। साधना की दृष्टि से जनवाद यदि तर्कयुक्त कर्म है तो मानवतावाद श्रद्धा युक्त कर्म है।

जनवादी भावना राज्य तथा उसका लोकतंत्रात्मक रूप बनाकर समाज का नियंत्रण करती है। जबकि मानवतावादी दर्शन व्यक्ति की पूर्ण सत्ता को स्वीकार करके तथा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण किये बिना सामाजिक विकास एवं उन्नति पर जोर देता है। मानवतावाद के अनुसार मनुष्य मात्र अपने व्यक्तित्व का विकास उस सीमा तक करने में स्वयं समर्थ है, जहाँ कि वह परस्पर प्रेम एवं शान्ति के साथ संसार में रह सके। मनुष्य को अपने चरम

विकास के लिये न तो किसी राज्य की आवश्यकता है और न अन्य किसी प्रकार की संकुचित सीमाओं में बंधने की ही। राजनीति तथा उससे सम्बन्धित अन्य दिशाओं में यद्यपि उपयुक्त भावना स्वीकृत नहीं हुई है तथापि साहित्य और कला के क्षेत्र में वह उसी मात्रा में प्रवेश कर चुकी है। जनवादी दर्शन में बहुमत और अल्पमत की स्थिति निर्दोष नहीं है, क्योंकि उसमें सदैव यह आशंका ही नहीं बल्कि कार्यरूप में होता है कि बहुमत का अनुचित भी अल्प-मत के उचित पर विजयी बन जाता है। जनमत की सफलता का आधार बहुमत का दोष है। जबकि मानवतावाद के अन्तर्गत मानवीय करुणा में मानव-मात्र की समवेदना एवं उसके पूर्ण की अनुभूति और अभिव्यक्ति सम्मिलित है।

मानवतावाद का स्वरूप यद्यपि भारत के लिये नया नहीं है तथापि वर्तमान युग के जिस रूप में उसे स्वीकार किया गया है उसका उदय पाश्चात्य विचारकों के सम्पर्क से हुआ है। यहाँ हमें यह भी न भूलना चाहिये कि जिन पश्चिमी विचारकों तथा कलाकारों ने मानवतावादी चिन्तन को गति प्रदान की है, उनमें से अधिकांश के चिन्तन की पृष्ठभूमि में भारतीय जीवन दर्शन का गहरा प्रभाव रहा है। सहस्राब्दियों पूर्व बुद्ध के नेतृत्व में अहिंसा के रूप में हुई भारत की धार्मिक क्रान्ति ने मानव में मानवता ही नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के प्रति उसी समवेदना का विस्तार किया है। इसमें दो मत नहीं हैं कि आधुनिक मानवतावादी विचारधारा के बीच भारतीय अद्वैतवाद तथा बौद्ध एवं जैन धर्म के अन्तर्गत कमोवेश देखे जा सकते हैं। इस प्रकार न केवल शताब्दियों बल्कि सहस्राब्दियों से मानवतावाद का स्वरूप भारतीय जीवनधारा का प्रमुख अंग रहा है। बीज रूप में मानवतावाद के पीछे भारतीय धर्म स्थापना को मान करके भी यह कहना अनुचित होगा कि वर्तमान-युगीन मानवतावादी दृष्टिकोण भारतीय गुरु पुरुषों द्वारा ही स्थापित है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि पूर्व युग की मानवता में मनुष्य आत्मोन्मुखी बनकर आध्या-त्मिक सफलता प्राप्त करता था और आज की मानवता मनुष्य को इसी धरती पर स्वर्ग बनाने तथा परस्पर सुख शान्ति से रहने को प्रेरित करती है। अभी

भी ऐसे विचारकों की कमी है जो मानवतावादी विचार प्रणाली को मात्र दुरूह कल्पना मानते हैं। ऐसे लोगों का कथन है कि संसार के पिछले रक्त-रंजित इतिहास सामने रखकर देखा जाय तो मानवतावादी दर्शन की व्यर्थता सिद्ध हो जायगी; परन्तु यह कथन भ्रामक है। यहाँ मैं कह सकता हूँ कि जहाँ मानव का पिछला इतिहास युद्धों से भरा है वहाँ उसके विकास रूप की प्रारम्भिक अवस्था से चलते-चलते जहाँ पहुँचा है उसे यहाँ रुक नहीं जाना है; बल्कि उसे और आगे बढ़ना है। मानव उसी ओर गतिशील है जहाँ वह मानव-मात्र की संवेदना को अपना सकने में समर्थ हो। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र विश्वसंघ की मञ्जिल नापने वाला मानव सही माने में विश्वबन्धुत्व के लिये प्रयत्नशील है। इस दिशा में उसके प्रयास अविराम चल रहे हैं। ''मानवता के द्वारा मानव की रक्षा की जाय'' वर्तमान युग का यह परिपुष्ट विचार दर्शन है, आधुनिक भारत के जन-जीवन पर इसका व्यापक प्रभाव सभी दिशाओं में पड़ा है। धर्म के क्षेत्र में विवेकानन्द, साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ और समाज तथा राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी इसके अग्रणी कहे जा सकते हैं। इस त्रिमूर्ति में महात्मा गांधी का प्रभाव प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में देश के क्षेत्रों में अधिक पड़ा है। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि गांधी जी का क्षेत्र प्रायः अपने सभी समकालीन महापुरुषों से व्यापक था। भारतीय जनता के हृदय में और मस्तिष्क पर लगभग तीन दशाब्दी तक महात्मा गांधी का एकछत्र शासन रहा, वैसा विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले महापुरुषों में किसी का नहीं रहा। लगभग तीस बर्ष तक महात्मा गांधी न केवल राजनीति प्रत्युत समाज सेवा, धर्म-दर्शन, और साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय रह कर इन्हीं सब माध्यमों से भारतीय जनजीवन में मानवता का पोषण करते रहे। मानवतावादी जीवन-दर्शन को परिपुष्ट करने में विश्व के जिन आधुनिक मनीषियों ने योग दिया है उनमें से अधिकांश महात्मा जी के माध्यम से ही आये। रस्किन, क्रोपाटकिन, टालसटाय और इमर्सन का मानवतावादी दर्शन महात्मा जी में मूर्त्त हुआ और उनके द्वारा भारतीय रूप में प्रचलित हुआ। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही दो बार विश्व युद्ध

की विभीषिका ने मानवता दर्शन को तिरोहित करने का प्रयास किया, परन्तु वह प्रयास न केवल असफल रहा, बल्कि दोनों ही युद्धों के पश्चात् मानवतावादी दृष्टिकोण में एक नवीन निखार आया और उसी का यह परिणाम है कि आज जब शीतयुद्ध और कभी कहीं छुटपुट गरम युद्ध हो जाने से मानवता पर आंच आने लगती है तो विश्व के नागरिकों में एक हलचल सी पैदा होने लगती है। और अनजाने अनबूझे होकर भी दूर देशों के नागरिक विभिन्न रंग-धर्म-जाति में बँटे होकर भी एक ही भावना के वश होकर मानवता की रक्षा के लिये समवेत स्वर गुंजाने लगते हैं।

भारतीय समाज के पहले प्रतिनिधि के रूप में महात्मा गाँधी का ही नाम लिया जा सकता है, जिसे विदेश के नागरिकों ने भी स्वीकार किया है। यों तो गांधी पूर्व पूर्वी भारत में ब्रह्मसमाज और उत्तर पश्चिम भारत में आर्यसमाज के द्वारा होने वाले जन जागरण की भी यह विशेषता रही है कि देशवासियों ने आत्मबोध के साथ अपने आस-पास भी देखना प्रारंभ कर दिया था। जाति, धर्म और राष्ट्र के क्रम से भारतीय समाज की चिन्ता धारा प्रवाहित हो रही थी। इसी समय स्वामी विवेकानन्द (१८६३–१९०२) का भारतीय क्षितिज पर उदय हुआ और उनकी उदार धार्मिक दृष्टि तथा मानवतावादी विचारधारा ने देश पर गहरा प्रभाव डाला। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर निरन्तर ही भारतीय चेतना के उदात्तीकरण की पृष्ठभूमि में बंगाल के पश्चिमी विचारकों के अतिरिक्त पूर्वी अद्वैतवादी विचारधारा का भी सामंजस्य हुआ। बंगाल में ब्रह्म समाज के द्वारा तथा बंगला साहित्य के शिखर रवीन्द्र ठाकुर की रचनाओं में उदात्तीकरण का वह स्वर स्पष्ट होकर फूटा। बंगला साहित्य का सीधा प्रभाव तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर वेग से पड़ रहा था। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में विचार व्यापकता बढ़ी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हिन्दी साहित्य ने बंगला के अतिरिक्त अंग्रेजी से भी प्रभाव ग्रहण करना शुरू किया। द्विवेदी युग के साहित्यकारों का सीधा सम्बन्ध पाश्चात्य लेखकों एवं कवियों से हो जाने के कारण इस धारा से और भी गति मिली।

एक ओर गांधी जी की अहिंसा एवं प्रेम की कार्यपद्धति सम्पूर्ण भारतीय समाज को दैनिक जीवन में मानवतावाद का पाठ पढ़ा रही थी, दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं में, विश्वप्रेम तथा मानव की आस्था भारतीय हृदय और मस्तिष्क को प्रभावित कर रही थी। बंगला ने इस दर्शन का प्रभाव फ्रांसीसी दार्शनिक काम्टे से ग्रहण किया था और हिन्दी ने पहले बंगला से और फिर सीधे अंग्रेजी साहित्य से निकट सम्पर्क स्थापित किया। रस्किन, इमर्सन, क्रोपाटकिन, हरबर्ट स्पेन्सर, टाल्सटाय तथा रोमांरोला जैसे यूरोपीय मानवतावादियों से हिन्दी ने बहुत कुछ ग्रहण किया। और, भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई के साथ मानवीय भावनाओं का स्वर भी दृढ़ होता गया। जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय, प्रान्त और राष्ट्र आदि अन्यान्य संकुचित सीमाओं में ग्रस्त पराधीन भारत की आत्मा स्वतन्त्र होकर पुनः वसुधैव कुटुम्बकम् के लिये व्याकुल हो उठी।

अपने दीन हीन भारतीयों को दीनता से मुक्त करने के साथ ही संपूर्ण मानवता को सम्पृक्त करने की आकांक्षा आधुनिक हिन्दी कविता का मूल स्वर है। भारतेन्दु युग से ही इस ओर प्रयत्न शुरू हो गये थे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र की—"वह पौरुष दीजिये कि जग को पकरि सकें हम हाथ समझहि सबको सब भाई सबको सब होहिं सहाई" आदि पंक्तियों में हमें आधुनिक मानवतावादी विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। यद्यपि भारतेन्दु युग की कविता जाति धर्म एवं राष्ट्र की सीमा से बाहर नहीं निकली, फिर भी मानवतावादी दृष्टिकोण का सम्प्रेषण तत्कालीन कविता में जहाँ-तहाँ दिखायी देता है। हम यह भी कह सकते हैं कि इससे कई शताब्दी पूर्व रचित संत-साहित्य जिसमें कबीर का प्रमुख स्थान है, मानवतावादी विचारों का आध्यात्मिक प्रदर्शन है। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट कह चुके है कि मानवतावाद का आधुनिक अर्थ सम्पूर्ण भौतिक सुखों को ग्रहण करने के परस्पर प्रेम, सत्य, भावना और सहयोग तथा बिना किसी जाति-धर्म-भेद को स्वीकार किये मानव मात्र का हित चिन्तन करना है, इस भावना का प्रार्दुभाव हिन्दी कविता

में बीसवीं शताब्दी में ही हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानवतावादी दर्शन कुछ सीमाओं के साथ व्यक्त हुआ। कवि सनेही ने लिखा:—

देखें कब भगवान हमें वह दिन दिखलावें,
सफल जातियां देश जाति की पदवी पावें
क्षीर-नीर की भाँति परस्पर सब मिल जावें
वृहद् राष्ट्र बन जाय शान्ति की उड़ें हवायें
साम्य भाव बन्धुत्व से पूरा साठों गांठ हो।

जहाँ सनेही जी मानव को जाति और धर्म से ऊपर उठकर राष्ट्रों में संगठित देखने के अभिलाषी हैं वहाँ पंडित रामचन्द्र शुक्ल बिना किसी भेद के सभी को परस्पर प्रेम धारा में बहते देखने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं:—

सबके होकर रहो सहो सबकी व्यथा
दुखिया होकर सुनो सभी की दु:ख कथा
परहित में रत रहो प्यार सबसे करो
जिसको देखो दुखी उसी का दुख हरो
वसुधा बने कुटुम्ब प्रेम धारा बहे
मेरा तेरा भेद नहीं जग में रहे।

शुक्लजी का मानव प्रेम बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। यहाँ हम यह भी जानते हैं कि हिन्दी कविता के द्वितीय उत्थान काल द्विवेदी युग ने बौद्ध साहित्य की खोज और उसके प्रकाश में आने एवं उसके प्रति अध्ययन की रुचि में बल प्रदान किया। प्रसाद जी ने बौद्ध साहित्य एवं दर्शन का गहरा अध्ययन किया था और अद्वैतवादी दर्शन के भीतर ही उन्होंने मानवता के भाव को परितृप्त किया। कामायनी में उनके मानवतावादी रूप का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंकन हुआ। ईश्वर के देवत्व का मानवीकरण तो श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री हरिऔध जी ने अपने महाकाव्य में कर दिया था। गुप्त जी के साकेत में राम और सीता तथा हरिऔध जी के प्रिय प्रवास में

राधा और कृष्ण मानवीय भूमि पर अवस्थित हैं। खंडकाव्य तथा स्फुट रचनाओं में ठाकुर गोपालशरण सिंह, सनेही, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने मानवतावादी दर्शन को विकसित किया। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने भारतीय त्याग और तपस्या के साथ लिखा।

जग की सेवा करना ही है सब सारों का सार,
विश्व-प्रेम के बन्धन ही में मिला मुक्ति का द्वार।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि व्यक्ति धर्म, समाज, राष्ट्र आदि की सीमाओं से लेकर भी मानवता की भावनाओं का विकास होता रहा है। भारत का प्रत्येक क्षण हिन्दी कविता में लिपिबद्ध हुआ तथा उसके अन्तर्गत सभी तथ्यों के साथ भारतीय समाज का अर्थात् अंकन के अतिरिक्त विश्व प्रेम और मानवता की भावना का विकास दिखाई पड़ना स्वाभाविक है। छायावादी हिन्दी कविता में सीमाएँ कुछ तेजी से टूटीं। निराला जी ने सर्वप्रथम अपने देश के दीन-हीन और दुखी जनों को अपनी कविता का कंठहार बनाया और अपनी सशक्त लेखनी से मानवतावाद की प्रथम पीढ़ी पर पैर रखा। निराला जी की कई अतुकान्त रचनाओं में मानवता साकार होकर मानव मात्र को झकझोर देने में समर्थ हुई। श्री सियाराम शरण की कुछ रचनायें भी इस दिशा में उल्लेखनीय स्थान रखती हैं। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हिन्दी के गीतों में मांसल प्रेम के अभिव्यक्तिकार तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता में सक्रिय सैनिक एवं उद्घोषक प्रसिद्ध हैं। परन्तु 'नवीन' जी मानव को किसी बन्धन में देखना पसन्द नहीं करते। वे मानव का मानव से सहानुभव का सम्बन्ध ही स्वीकार करते हैं:—

एक तार का तारतम्य हो निद्रा—पर का आभास मिटे
संग्रह का विग्रह मिट जाये यह संघर्षण भास मिटे
मानव—हिय में मानव के प्रति सह अनुभव की पीर रहे
जग के नील गगन में निशि—दिन सजल नेह घन भीर रहे।

इतना ही नहीं नवीन जी, मानव को इतना विराट और महान देखने के इच्छुक हैं कि जिसे देखकर स्वयं सृष्टा भी आश्चर्य और गर्व से फूल उठे:—

इतनी विस्तृत इतनी चौड़ी हो इस मानव की छाती
जिसे निरख कर स्वयं सृजन भी कहें लखो मेरे थाती
मानव का अति शुद्ध घरौंदा जग का प्रांगण बन जाये
यों सीमा में निज सीमा का विस्तृत चँदुआ तन जाये
रहे न रण सज्जा का दुर्ग ही औ न कहीं प्राचीर रहे
जग के नील गगन में निशि दिन सजल नेह घन भीर रहे

इस दिशा में सर्वाधिक आन्दोलनकारी प्रयास श्री सुमित्रानन्दन पन्त का है। पन्त जी का प्रकृति प्रेम और सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण प्रसिद्ध ही है। परन्तु इससे भी ऊपर उन्होंने मानव प्रेम और मानवतावादी विचार दर्शन को माना। मानवमात्र के लिये एक विश्व संस्कृति की कल्पना करके पन्त जी ने मानवतावाद का एक रचनात्मक स्वरूप हिन्दी कविता को देने की चेष्टा की है। सच तो यह है कि मानवतावादी विचारों का आन्दोलनकारी रूप पन्त जी में जितना मुखर और व्यापक है अन्यत्र कहीं नहीं है। यद्यपि पन्त जी की कविताओं में मानवतावाद एक आन्दोलन के रूप में व्यक्त होने के कारण बौद्धिकता से अधिक प्रभावित हुआ, और हृदय की तरलता में कुछ कमजोरी रह गयी। परन्तु हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि और उसके अभावों पर दृष्टि-पात करने के पश्चात् पन्त जी को उनकी बौद्धिकिता के लिये दोषी नहीं ठह-राया जा सकता। हाँ—इतना निर्विवाद है कि प्रसाद जी की रचनाओं में मान-वतावादी जीवन जितना गहरा, जितना स्निग्ध और जितना मनोरम बना उतना गत तीन शताब्दी बीत जाने के बाद भी अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। यद्यपि गत बीस वर्षों में मानवतावादी विचारों का प्रचार और प्रसार तब से अब तक बहुत आगे बढ़ा है, परन्तु रचनाओं में वैसा गम्भीर्य और वैसी गहरी जीवनदृष्टि मुखरित नहीं हुई।

छायावादी कवियों में प्रसाद, निराला और पन्त ही ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में मानवतावादी जीवन दर्शन सही ढंग से प्रतिपादित हुआ। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन और महादेवी की मानवता आत्मोन्मुखी होने के कारण समाज का चिन्तन न बनकर कला का कलश ही बन सकीं।

निरालाजी पर रामकृष्ण परमहंस की गहरी छाप पड़ी और उनकी दार्शनिकता भूमि से ऊपर उठकर मानवता का शृङ्गार करने में आगे रही। विचार की दृष्टि से रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द का गहरा परिचय निरालाजी ने हिन्दी कविता को कराया। बँगला काव्य और उसकी आत्मा तथा शरीर का भी स्पष्ट बोध निरालाजी के द्वारा हुआ। कला की ऊँचाई से ज़रा भी नीचे उतरे बिना निराला जी ने अपने आस-पास के बिखरे और टूटों को अपनाकर हिन्दी कविता में मानवतावाद का पथ प्रशस्त किया।

श्री मैथिलीशरण गुप्त का मानवीय दृष्टिकोण भारतीय समाज की अनुकृति के साथ सभी सीमा बन्धनों को लेकर बढ़ा। जाति, धर्म, राष्ट्र सभी से उनकी कविता बँधी है, और उस बन्धन में भी उसका विस्तार होता रहा। हिन्दी कवियों में गुप्त जी के लिये यह सर्वविदित है कि समय के साथ जो चलने की क्षमता उनमें है वह औरों में नहीं है। जाति, समाज, धर्म और राष्ट्र आदि विषयों से लेकर विश्व-मानव तक की मंजिल नापने में गुप्त जी आगे रहे हैं। 'भारत-भारती' के जातीय रूप से निरन्तर बढ़ते हुए मानवता का नवीनतम दृष्टि विन्दु उनके 'पृथ्वी पुत्र' में देखने को मिलता है। माता-भूमि अपने पुत्र मानव से कहती है:—

तुझको बड़े से बड़ा देखना चाहती हूँ
मेरे जात सारे जन्तुओं में मुख्य तू है
किन्तु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझमें
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू
देश कुल जाति किंवा वर्ग-भेद भूल के

जा तू–विश्व मानव हो सेवा कर रूप की।
भीति नहीं, प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो।
उठ बढ़ ऊँचा चढ़ संग लिये सबको
सबके लिये तू और तेरे लिये सब हैं
नाश में लगी जो बुद्धि विलसे विकास में
गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का।

इस प्रकार गुप्त जी ने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को वाणी प्रदान की है।

छायावादी युग के कवियों में प्रसाद जी और पन्त जी शीर्ष स्थान रखते हैं, जिनका दृष्टिकोण न कभी अनुदार बना और न कभी संकुचित।

मानवता और विश्व प्रेम का परिष्कृत एवं व्यापक स्वरूप इन दोनों की ही रचनाओं में मुखर हुआ। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रसाद जी की रचनाओं में मानवता का स्निग्ध एवं मनोरम चित्रण हुआ है, परन्तु पन्त जी की रचनाओं में बौद्धिकता का प्रभाव अधिक हुआ है। पन्त जी ने मानव को विभिन्न सीमाओं में घिरा पाया और उनसे मुक्त होकर सुखद संसार बनाने के लिये उद्‌बोधन दिया। पन्त जी की सौन्दर्यवादी दृष्टि का यह मानवतावादी परिवर्तन सन् १९३० से आरम्भ हुआ। देश में यह समय वैचारिक दृष्टि से मार्क्सवादी अध्ययन, नेतृत्व की दृष्टि से महात्मा गांधी और योग दर्शन में अरविन्द का कहा जा सकता है। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मानवीय संवेदना का विस्तार किया और गांधी जी के नेतृत्व ने मानवता को मूर्त्त रूप दिया। पन्त जी अरविन्द से भी प्रभावित हुये। अतः झरनों, सुमनो, नदियों और पक्षियों तथा प्रकृति उपासक कवि पन्त ने १९३५ के लगभग मानव के प्रति अपनी अखण्ड आस्था प्रगट करते हुये कहा:—

सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम्

उनकी विश्व भावना इसके पहले से ही मुखरित होने लगी थी। सन् १९३० में ही उन्होंने लिखा था:—

तप रे मधुर मधुर मन
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
जग जीवन की ज्वाला में गल
बन अकलुष उज्ज्वल औ कोमल

अपनी आकांक्षा व्यक्त करते हुये उन्होंने लिखा था:—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्णिम स्पर्शों का
जीवन में हर्ष विमर्शों का
लगता अपूर्ण मानव जीवन

मानव जीवन की पूर्णता में बाधक तत्वों को इंगित करते हुये पन्त जी ने कहा:—

मानव वे हैं सब, जाति, वर्ण,
सब धर्म, ज्ञान, संस्कृति बल धन।

मानव की अपूर्णताओं से क्षुब्ध होकर उनका स्वर प्रखर होता गया। मानव प्रेम में बाधक सीमाओं को तोड़ने और उसके बन्धनों को नष्ट करने के लिये वे व्याकुल हो उठे:—

सारे जाति, कुल वर्ण पर्ण धन,
अंध नींद से रूढ़ि रीति धन
कलि, राष्ट्र गत राग द्वेष रण
सारे मरे विस्मृति में तत्क्षण।

मानव के ऊपर लदे हुये सीमा भार तुच्छ हैं। मानव उन सीमाओं से ऊपर है—बड़ा है। उसकी महत्ता मानवता में है, जाति धर्म या देश में भी:—

देश काल है उसे न बन्धन
मानव का परिचय मानवपन

मानव की विश्रृंखलित स्थिति से पीड़ित वे सोचते हैं:—

जो एक असीम अखंड मधुर व्यापकता
खो गयी तुम्हारी वह जीवन सार्थकता
लगती विश्री और विकृत आज मानव कृति
एकत्व शून्य है विश्व मानवी संस्कृति।

विभाजित मानवता को जब चेतन की उपेक्षा और जड़ की पूजा करते देखते हैं तो वे रोषमयी पीड़ा से कराह उठते हैं। ताज के प्रति उनकी निम्न पंक्तियाँ उनके मानव-प्रेम को और भी स्पष्ट करती हैं:—

हाय, मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा है जग का जीवन,
संग साथ में हो शृङ्गार मरण का शोचन,
नग्न क्षुधा तन वसन विहीन रहें जीवित जन।
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या मानव के प्रति?
आत्मा का अपमान प्रेत और छाया से रति
शव को दे हय रूप रंग आदर मानव का
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का।

पन्त जी जीवित, जागृत मानवता के पुजारी हैं। मानवताहीन मानव से उनकी विरक्ति है। मनुष्यता को दबा लेने वाली प्रत्येक वस्तु उन्हें नहीं रुचती। वे देखते हैं अन्यान्य वस्तुओं में मनुष्य की आत्मा खो गयी है। मानव अपने ही बनाये गये भेद भाव में उलझ गया है—खो गया है। अतः उनका कथन है:—

आज मनुज को खोज निकालो।
जाति, वर्ण, संस्कृति, समाज से,

मूल व्यक्ति को फिर से चालो।
भाषा, भूषा के जो भीतर,
श्रेणि वर्ग से मानव ऊपर,
अखिल अवनि में रिक्त मनुज को
केवल मनुज जान अपना लो।

वे ऐसे किसी दर्शन, विज्ञान संस्कृति को नहीं चाहते जो आज मानव को परस्पर दूर करने में सहायक बने। वे चाहते हैं:—

वह दर्शन विज्ञान मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण,
वह संस्कृति, नवमानवता की, जिसमें विकसित नया स्वरूप।

पुरातन के विरोधी और नवीनता के आराधक पन्त जी उनमें नहीं हैं जो मात्र प्राचीनता के कारण अच्छे को भी मिटाना चाहें और मात्र नवीनता के कारण गलत भी ग्रहण करलें। वे समन्वयी है। अच्छी प्राचीनता भी उन्हें नवीन आचरण में ग्राह्य है। समन्वय का सिद्धान्त प्रस्तुत करके वे विश्व-मानव की विभिन्नता में भी एकता स्थापित करना चाहते हैं। उनका सुझाव है:—

सजा पुरातन को कर नूतन
देश देश का रंग अपनापन
निखिल विश्व की हाट-बाट में
लेन-देन हो मानवपन का।

वे संसार में मानव के लेन-देन में मानवता के पक्षपाती हैं। मानवीयता के बिना मानव की महत्ता नहीं है। मानव अपनी अनेक तुच्छ सीमायें तोड़कर आगे बढ़ा अवश्य है, परन्तु अभी मुख्य अभाव तो है ही:—

मानव ने पायी देश काल पर जय निश्चय
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय।

और मानव में, मानव हृदय की प्रतिष्ठा में बाधक तत्वों को स्पष्ट करके उन्हें मिटाकर उनमें युग के नये मानव की स्थापना करने को कहते हैं:—

मनुजों की लघु चेतना मिटे लघु अहंकार
नवयुग के गुण से विगत गुणों का अंधकार
हो शांति जाति, विद्वेष, वर्गगत रक्त समर
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हो सुहृदय सुन्दर
संयुक्त कर्म पर हो, संयुक्त विश्व निर्भर
राष्ट्रों से राष्ट्र मिले, देशों से देश आज
हो धरणि जनों की जगत-स्वार्थ जीवन का घर
नव मानव का हो प्रभु ! भव मानव का वर,

पन्त जी मानवता को काल्पनिक भूमि पर ही नहीं देखते। वे सम्पूर्ण भौतिकता का भी उसमें समावेश करके संतुलित मानवता का सुन्दर स्वरूप अंकित करते हैं:—

मानव हो मानव, हो मानव में मानवपन
अन्न वस्त्र से प्रसन्न शिक्षित हो सर्वजन
सुन्दर हो वेश, उनके हों निवास सुन्दर
खोलो परम्परा के कुरूप वसन नारी नर

उपर्युक्त पंक्तियों में पश्चिमी मानवतावाद और भारतीय सर्वोदयवाद की स्पष्ट व्याख्या है। पन्त जी की सौन्दर्यानुभूति भी बड़े ढंग से मानवतावाद में इन पंक्तियों के माध्यम से व्यक्त हुई है। स्पष्ट हो गया कि पन्त जी की रचनाओं ने हिन्दी कविता के मानवतावादी दृष्टिकोण को बढ़ाने में किस प्रकार सहयोग दिया। जो कमी पन्त जी में रह गई थी उसे प्रसाद जी ने पूरा किया। प्रसाद जी की 'कामायनी' में मानवतावादी जीवन दर्शन बड़ी सफलता और स्निग्धता के साथ प्रविष्ट हुआ। मानवता के विभिन्न पक्ष यदि नवयुग के किसी काव्यग्रंथ में स्निग्ध और मनोरम रूप में मिल सकते हैं तो वह 'कामायनी ही है। प्रसाद जी में पन्त जी की भाँति काव्य का आन्दोलन

कारी रूप नहीं हैं। वे मानवता की बड़ी से बड़ी बात जीवन के बीच में ही रख देने में समर्थ हुये हैं। उदाहरण है श्रद्धा का यह कथन कि:—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ।

तथा कामायनी में प्रयुक्त सिद्धान्त सूत्र—"प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त" और "सबकी समरसता कर प्रचार" इत्यादि।

प्रसाद जी हिन्दी कविता के सर्वश्रेष्ठ मानवतावादी शिल्पी हैं। छाया-वादी युग के बाद से मानवतावादी जीवनदर्शन हिन्दी कविता का प्रधान स्वर बनता चला गया है। स्वराज्य मिल जाने के बाद इस धारा की गति और वेग से प्रवाहित होने लगी है। आज विश्व के किसी कोने में यदि मानवता के विनाश का कोई भी काम होने लगता है तो हिन्दी कविता उसके विरुद्ध विद्रोह फूंकने लगती है। आज का युग मानवतावादी युग कहा जाने लगा है और संसार को एक सुखद स्वर्ग बनाने की चेष्टा में मानव प्रयत्नशील है। इस भावना की अभिव्यक्ति संसार भर के साहित्य में कम-वेश मात्रा में हो रही है। आज भी हिन्दी कविता में विश्व प्रेम, मानव मात्र के प्रति गहरी निष्ठा और सम्पूर्ण मानवीय संवेदना पुंजीभूत हो रही है। राष्ट्र और समाज के लिये जिन हिन्दी कवियों ने कविता को सजाया, उन सभी में मानवतावादी स्वर गूंजता रहा है। 'दिनकर' का नाम उस पीढ़ी में उल्लेखनीय है।

गत पच्चीस वर्षों में हिन्दी कविता ने कई मोड़ लिये हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जब विश्व और मानव विनाश के संकट से गुजर रहा है,

तब कविता भटकती-सी दिखाई दी। परन्तु ऐसा है नहीं। हिन्दी कविता में आज विश्व के सभी विचारों का प्रवेश हो रहा है। हिन्दी के अन्यान्य कवि उन विचारों से प्रभावित हो रहे हैं। कुछ लोग आत्मपरक और वर्ग-गत भावनाओं के भी शिकार बने दिखाई देते हैं। मगर हिन्दी कविता गत चौथाई शताब्दी में जिस ऊँचाई पर चढ़ने लगी है उससे नीचे उतारने की शक्ति अभी किसी में नहीं है। दिनकर से लेकर नीरज तक की पीढ़ी उसी धारा का प्रतिनिधित्व करती है। अन्त में एक बात यह है कि यद्यपि हिन्दी कविता में मानव प्रेम और विश्व की एकता का स्वर निरन्तर गूंज रहा है; परन्तु उसका यह स्वर आन्दोलनकारी अधिक है, प्रदर्शनात्मक है। आवश्यकता है हिन्दी कविता को उस शिखर पर पहुँचने की जो विश्व के सम्पूर्ण जीवन को छूकर प्रभाव डाल सके। हिन्दी कविता अभी ऐसे किसी प्रतिभाशाली कलाकार की प्रतीक्षा कर रही है जो उसे अपनी प्रतिभा, अपने ज्ञान, और अपनी क्षमता से अलंकृत करके विश्व की पीठिका बना देने में समर्थ हो।

———

प्रेमचन्द और गोर्की

विश्व के किन्हीं दो महान कलाकारों की तुलना करना केवल कठिन ही नहीं बल्कि कई दृष्टियों से उचित भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उत्कृष्ट कलाकार का अपना एक विशिष्ट संसार होता है। जिसमें सबको दिखाई पड़ने वाली अन्यान्य वस्तुओं के साथ उस कलाकार को कुछ और भी दिखाई पड़ता है. यह कुछ और दिखाई पड़ने वाली वस्तु ही कलाकार की दृष्टि की अपनी विशेषता होती है, और इसी के आधार पर वह अपनी कला की सृष्टि करता है। उस सृष्टि में वह जो रंग भरता है उससे उसकी कलात्मक शक्ति का अनुमान लगाया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि प्रत्येक महान कलाकार अपनी दृष्टि को लेकर सृष्टि करता है। अत: किन्हीं दो कलाकारों की कृतियों में केन्द्रीय भाव भूमि की समानता होते हुये भी पूर्णतया अभिन्नता नहीं होती। अस्तु ;प्रेमचन्द और गोर्की की दृष्टि में पर्याप्त साम्य होते हुए भी काफी अन्तर है।

बीसवीं शताब्दी में भारत और रूस की ही नहीं, दुनियां की विचार–धारा में जो व्यावहारिक मोड़ आया और चिन्तन के निज तत्वों ने कला की परिभाषा ही बदल दी, उसके सबल उद्घोषकों में गोर्की और प्रेमचन्द के नाम सर्वथा उल्लेखनीय हैं। दोनों कलाकारों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने की आवश्यकता इसलिये भले ही ठीक हो सकती है, कि दोनों ही समकालीन एवं गरीब और गुलामी से पीड़ित जनता के पक्षपाती थे। दोनों के हृदय में देश–प्रेम का सागर लहराता था। दोनों में मानवता की विश्व-व्यापी अन्तरदृष्टि का अत्यन्त परिष्कृत और उज्ज्वल रूप विद्यमान था। दोनों ही जीवन संघर्ष के वाहक और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने वाले तथा शोषित समाज के उद्धारकर्त्ता थे। दोनों के जीवन में अभाव और पग-पग पर लगने वाले आघात

इतने कठोर और निर्मम थे, जिनके द्वारा मानव, मानवता के उस चरम विकास तक पहुंचता है, जहां देश, काल, जाति धर्म आदि सभी के बंधन टूट कर मात्र मानवीय करुणा और शुद्ध प्रेम एवं मानव मन के राग–विरागों की सूक्ष्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में वे विकास पथ के उन निर्भीक यात्रियों में होते हैं, जो अपने प्राणों का अवशेष करके अमरता प्राप्त करते हैं। जिनका कभी विनाश नहीं होता। गोर्की और प्रेमचन्द ऐसे ही मनीषियों में हैं। गोर्की ने अपनी आत्मकथा में लिखा है:—

"मैंने बहुत ही छोटी उम्र में इस बात को समझ लिया था, कि बड़े आदमी अपने को न जाने क्या समझते हैं, और उनका असली रूप तो तब दिखाई देता है जबकि वे गरीब मेहनतकशों से जी तोड़ काम लेते हैं, उनकी भर्त्सना करते हैं। यह सब मुझे सुहाता नहीं था। मेरे दिल में चिनगारियाँ-सी जलती थीं। कभी–कभी मैं क्रोध और प्रतिशोध की भावना से पागल हो जाता था।"

प्रेमचन्द ने पं० बनारसी दास चतुर्वेदी को एक पत्र में लिखा था:–

"जो व्यक्ति धन सम्पदा में विभोर और मगन हो, उसके महान पुरुष होने की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूं, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे लगता है इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को–उस सामाजिक व्यवस्था को जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है, स्वीकार कर लिया है।"

दोनों ही कलाकार शौकिया कलाकार नहीं थे, क्योंकि दोनों के हृदय और मन पर उद्देश्य की गहरी निष्ठा प्रतिष्ठित थी। गोर्की ने लिखा है:—

"मैं संघर्षों में पला हूँ। मैंने बाल्यावस्था से लोगों की असह्य घृणा और दुर्विचारपूर्ण निष्ठुरता को सहा है...। मेरे ऊपर गरीबी से थका देने वाली

जिन्दगी का दबाव था, और मेरे पास इतने अनुभव थे कि उन्होंने मुझ लिखने के लिए मजबूर कर दिया।'' प्रेमचन्द के शब्द हैं– ''मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है, और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। मेरी आकाँक्षायें कुछ नहीं हैं—साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूं।''

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि विश्व के इन दो महान साहित्य-सृष्टाओं के जीवन और कृतित्व में बाहरी विषमता होते हुए भी आन्तरिक एकता का जैसा उदाहरण मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

गोर्की सोवियत भूमि के सर्वहारा वर्ग की उपज थे, और प्रेमचन्द भारतीय मध्यवर्ग की।

गोर्की विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने की तीव्र इच्छा रख कर भी प्राप्त नहीं कर सके, और प्रेमचन्द ने जीवन संघर्ष के साथ विश्वविद्यालय की शिक्षा उत्तीर्ण की, और सरकारी नौकरी भी की।

गोर्की का प्रारम्भिक जीवन असाधारण कठिनाइयों और सड़े-गले समाज की वीभत्स छाया में बीता। प्रेमचन्द का जीवन इससे भिन्न अच्छी स्थिति में पनपा।

गोर्की ने सामाजिक कुत्सा एवं दैन्य के बीच से अपना मार्ग खोजा, प्रेमचन्द ने दिखाऊ बड़प्पन को लात मार कर गरीबी अपनाई।

गोर्की हर जगह लड़े और टक्कर ली। प्रेमचन्द ने सीधी लड़ाई में भाग नहीं लिया, परन्तु जब कभी वक्त आया, तो अपने स्वाभिमान और सिद्धान्तों का सौदा नहीं किया।

गोर्की जितने प्रखर और मुखर थे, प्रेमचन्द उतने ही कोमल और सहिष्णु।

गोर्की ने सभी क्रांति के नायकों के साथ कन्धा मिलाकर काम किया था, प्रेमचन्द का अपने राष्ट्र नेताओं से सीधा संबन्ध भी घनिष्ट नहीं था।

गोर्की प्रेमचन्द से बारह वर्ष बड़े थे अर्थात् एक पीढ़ी आगे थे। परतु दोनों की मृत्यु एक ही वर्ष अर्थात १९३६ में लगभग साढ़े तीन महीने का आगा-पीछा करके हुई। रूसी साहित्याकाश का सूर्य गोर्की १८ जून १९३६ को अस्त हुआ था, और भारतीय साहित्य गगन के प्रेमचन्द ने ८ अक्तूबर १९३६ को अपनी शीतल चाँदनी समेट ली। गोर्की ६८ वर्ष जिये। प्रेमचन्द ५६ बर्ष। गोर्की का साहित्य–जीवन ४४ वर्ष रहा, और प्रेमचन्द का ३५ वर्ष।

प्यार में आल्योशा कहलाने लाला बालक अलैक्सी मैक्समोविच पैश्कोव साहित्य क्षेत्र में गोर्की अर्थात् नील–कंठ बन गया, और मुंशी वराने में उत्पन्न धनपतिराय ने नवाबराय बन कर साहित्य में प्रवेश किया था, और प्रेमचन्द बन कर चमका।

गोर्की जहाँ तक, जिस तरह भी होता, देखने–सुनने की इच्छा लेकर निकल पड़ते थे। प्रेमचन्द प्रवास भीरु थे। गोर्की को अपनी नानी का प्यार मिला, और उनके जीवन–विकास में जो स्थान उनकी नानी का है, वह अन्य किसी का नहीं। गोर्की की नानी उसकी प्रेरणा, क्रिया और दर्शन का आधार बन गई। नानी जितनी प्रेरणामयी थी, नाना उतने ही त्रासदायक सिद्ध हुए। गोर्की शिशु थे जब उनके पिता चल बसे थे, और माँ का प्यार पूरी तरह से इसलिये भी न मिल सका, कि उसने दूसरी शादी कर ली थी। गोर्की ने निजी जीवन में संघर्ष की जिस चरम सीमा को छूकर अपने को विकसित किया, वह करुणा की क्रांति और साहस की अन्यतम स्थिति है। प्रेमचन्द के जीवन में आर्थिक संघर्ष जबरदस्त रहा, मगर उतना और वैसा नहीं जैसा गोर्की के सामने था। प्रेमचन्द को माता, पिता, चाचा, पत्नी का पूर्ण स्नेह और प्यार मिला था। गोर्की प्यार के लिए तड़पते रहे। गोर्की को लेनिन का

सान्निध्य मिला, निकटता रही। और प्रेमचन्द न गांधी दर्शन ही कर सके ; न निकट पहुँचे, न विचार विनिमय ही हुआ ।

गोर्की ने देश की क्रांति में सक्रिय भाग लिया, और क्रांति की सफलता के पश्चात अपनी आंखों अपने विचारों को फूलते–फलते देखा। प्रेमचन्द गुलामी में जन्में और गुलामी में ही चले गये। देश की स्वाधीनता और दुखी समाज को सुख की सीढ़ी पर चढ़ते देखने की लालसा उनके भीतर ही रह गयी।

शायद यही वे कारण हैं जो गोर्की और प्रेमचन्द को समान स्तर पर खड़े करके देखने पर कुछ विभिन्नता प्रदान करते हैं। अन्यथा साहित्य-सृजन की शक्ति, प्रतिभा, हृदय की तीव्र अनुभूति, कला की मार्मिकता में दोनों समान हैं—एक से हैं। गोर्की की रचनाओं में तत्कालीन सोवियत का स्पष्ट चित्र उतर आया है और साथ ही उसे चूर-चूर कर डालने वाली ताकत का उभार भी देखने को मिलता है। प्रेमचन्द की रचनाओं में भारत की ग्राम्य संस्कृति तथा तत्कालीन भारत की दुर्दशा को वाणी मिली है।

कथावस्तु, पात्रचयन, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण तथा मनोविश्लेषण और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति दोनों ही की रचनाओं में पूरी तरह से दिखाई पड़ती है।

गोर्की की 'माँ' पाठक का हृदय हिला देगी, और प्रेमचन्द का 'गोदान' पाठक को रुला देगा। गोर्की की 'माँ' की पात्र निलावना साहस और कर्मठता की अद्‌भुत मूर्ति है। सहन शक्ति भी उसकी अनुपम है। प्रेमचन्द का 'होरी' भारतीय किसान का सर्वोत्तम नमूना है। उसकी सहनशीलता, कार्यशक्ति, चिन्तन-प्रणाली तत्कालीन भारतीय किसान का जीवित प्रतिबिम्ब है। गोर्की की 'माँ' का बेटा वावेल नई-नई क्रान्ति का अगुआ है और माँ उसकी सहायिका है। प्रेमचन्द का नायक 'होरी' अपने वर्तमान से त्रस्त होकर भी क्रान्तिकारी कदम उठाने में असमर्थ है। 'होरी' की इस कमजोरी का कुछ

परिष्कार प्रेमचन्द ने 'धनिया' और 'गोबर' के माध्यम से कराया है। 'गोबर' का मानसिक स्तर भी शहर में आकर उठता है। गोर्की के पात्र अपने भीतर से शक्ति की चिनगारी प्रज्वलित करते हैं और यहीं पर 'माँ' तथा 'गोदान' अपने उद्देश्य में एक होकर अलग हो जाते हैं। गोर्की का अध्ययन विश्व के जिस प्रांगण में हुआ, और उन्होंने जो इम्तहान पास किये, वे असाधारण हैं और शायद एक यह भी कारण है कि गोर्की अपने पात्रों में सजीवता भरने में अद्भुत सफलता प्राप्त कर सके हैं। सर्वहारा वर्ग के पात्रों के चरित्र-चित्रण में गोर्की ने अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। यही नहीं विशाल जीवनानुभवों ने उन्हें मनुष्य का विश्लेषण करने तथा समझने में अन्यतम पारखी बना दिया।

यह बिलकुल सत्य है कि औपन्यासिक कला में गोर्की की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द से सबल है; दोनों ही कलाकारों का पूर्ण अध्ययन करने पर यह बात किसी भी प्रबुद्ध पाठक से छिपी नहीं रह सकती। परन्तु जहाँ तक प्रतिभा का प्रश्न है, प्रेमचन्द गोर्की से किसी भी कदर कम नहीं कहे जा सकते। प्रतिभा का उपयोग करने में जिन परिस्थितियों का योगदान मिला, दोनों की साहित्य-रचना पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

भारत और रूस की जनता के विकासक्रम में जो अन्तर है, वही अन्तर इन दोनों कलाकारों में है। गांधी और लेनिन का मार्ग एक नहीं था। प्रेमचन्द का भारत ग्रामीण किसानों के खून-पसीने पर उठ रहा था, जबकि गोर्की का रूस यांत्रिक सभ्यता का संबल लेकर मजदूरों के कन्धों पर बढ़ रहा था।

प्रेमचन्द का देश भारत, विदेशी दासता के विरुद्ध जूझ रहा था और गोर्की का रूस अपने ही देश की ज़ारशाही को हटाकर मजदूर राज्य के लिये प्रयत्नशील था। गोर्की के जीवन सम्बन्धी अनुभव जितने गहरे और व्यापक थे, प्रेमचन्द के उतने नहीं।

गोर्की यथार्थवादी अधिक थे, प्रेमचन्द आदर्शवादी। इसका यह अर्थ नहीं कि गोर्की में आदर्शवाद का अभाव है और प्रेमचन्द में यथार्थता का; बल्कि यों कह सकते हैं कि दोनों में दोनों ही गुणों का पूर्ण समावेश होते हुए भी व्यक्तिगत झुकाव उपर्युक्त प्रकार का था। गोर्की का अदम्य साहस और सतत आशावादी दृष्टि कहीं भी कमजोर नहीं होती। वह भाग्य और भगवान के सहारे तथ्यों को नहीं छोड़ देता। जो कुरूप है उसे मिटाने के लिए वे कटिबद्ध दिखाई देते हैं। गोर्की में त्रस्त और पस्त मानव आशा और विश्वास के बल पर साहस के साथ आगे बढ़ता है तथा जर्जर वर्तमान को विध्वंस कर निर्माण की भावी चेतना का निर्देशन होता है। प्रेमचन्द की आशावादी दृष्टि भी कभी हारती नहीं; परन्तु साहस का जो अविजित रूप गोर्की में है, वह उनमें उतना नहीं है। गोर्की की 'माँ' और प्रेमचन्द का 'गोदान' जिनकी केन्द्रीय भावभूमि समान-सी है और जिनमें दोनों ही कलाकारों ने अपनी कला और प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन किया है, दोनों के व्यक्तित्व और कृतित्व के विचार और दर्शन के अन्यतम उदाहरण हैं।

गोर्की के वर्णन में सागर का गम्भीर गर्जन है और प्रेमचन्द के वर्णन में सरिता का कलकल नाद। गोर्की सामाजिक दुर्व्यवस्था पर घन के भीषण प्रहार करते हैं, प्रेमचन्द अपनी बौद्धिक छेनी से उसे तराशते हैं। दोनों ही कलाकार जीवन दर्शन की पैठ और पकड़ में समान हैं। दोनों में कथा प्रसंग, घटना वैचित्र्य, चरित्र-चित्रण, वर्णन की सघनता, क्रियाकलापों का मार्मिक और वैज्ञानिक विश्लेषण, समान-सा है। गोर्की अपने पात्रों का चित्रण इतना मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से कर सके हैं, जिन्हें भुला देना मुश्किल होता है। उनकी 'माँ' का चरित्र-चित्रण तो सम्भवतः विश्वसाहित्य में बेजोड़ है। प्रेमचन्द के 'होरी' के लिए भी यही बात कही जा सकती है। यद्यपि दोनों ही पात्रों का विकासक्रम भिन्न स्तर पर हुआ है; परन्तु चरित्र चित्रण की विशेषता ने गोर्की की 'माँ' को और प्रेमचन्द के 'होरी' को अविस्मरणीय पात्र बना दिया है।

प्रेमचन्द की संवेदना उत्तेजित कम और कारुणिक ज्यादा है, जबकि गोर्की की पीड़ा कराहने के बजाय आक्रोश का रूप धारण कर लेती है। संक्षेप में यदि हम कहें तो यह निर्णयात्मक रूप से कह सकते हैं कि:—

अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी यदि दोनों कलाकार कहीं अभिन्न हैं तो वह है पीड़ित मानवता के प्रति उनकी गहरी निष्ठा और उसकी मुक्ति के लिये उनके अन्तर की व्याकुलता, सामाजिक चेतना की तीव्र अनुभूति और उसके प्रति उनका स्वस्थ चिन्तन।

'अपनी खबर' : आत्मकथात्मक कलाकृति

उर्दू के एक शायर ने लिखा है:—

"हम वहाँ हैं, जहाँ से हमको भी कुछ भी अपनी खबर नहीं आती।"

परन्तु हिन्दी के बहुचर्चित साहित्यकार 'उग्रजी' ने 'अपनी खबर' देकर इस बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है, कि उन्हें दूसरों की खबर तो है ही, अपनी खबर भी उन्हें भली भाँति है। उग्रजी हिन्दी जगत के उन व्यक्तियों में से हैं, जो मात्र अपनी प्रतिभा के बल-बूते पर जाने-माने गये। न जिन्हें पारिवारिक सुख मिला, न विधिवत शिक्षा मिली। गरीबी, अभाव, पीड़ा और अपमानों ने जिन्हें हर कदम पर घेर कर मोड़ देना, या तोड़ देना चाहा, परन्तु जो बहादुरी से सभी कठिनाइयों को पार करते हुए अपनी जीवन नैया को खींचते ही गये।

उग्रजी की उग्रता से हिन्दी-जगत के अन्यान्य महारथी और राजनीति के रण-कुशल पंडित भी व्यथित और क्षुब्ध हुए हैं। उग्रजी की लेखनी जितनी पैनी है उतनी शायद अन्य किसी की नहीं। सीधी चोट करने में वे पटु हैं, और घुमाकर प्रहार करने में चतुर। कला के आवरण में रंगीन यथार्थ तो बहुत लोगों ने चित्रित किया है, परन्तु कला के परिधान में कुत्सा को जितने सजीव और मार्मिक ढंग से वे प्रस्तुत कर सके हैं, अन्य कोई नहीं। रास्ता चलते और भरी सभा में पगड़ी उछाल देने वाले साहित्यकारों की कमी नहीं है। और यह काम हिन्दी के अन्यान्य प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों ने आवश्यकता से विवश होकर जब तब किया है। उग्रजी पगड़ी उछालकर ही संतोष प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति नहीं हैं। वे किसी भी पूज्य और श्रद्धाप्राप्त व्यक्ति को नंगा कर देने से भी नहीं हिचकते। नग्न यथार्थ उनके साहित्य का और उनके जीवन का प्रमुख तत्व रहा है। परन्तु यह कार्य वे किसी द्वेष या

शत्रुता की भावना से ही करते हैं , यह कहना उनके कलाकार के साथ अन्याय होगा । वस्तुतः इसके पीछे उनका वह अक्खड़ और संघर्ष करने वाला स्वभाव है जो अनौचित्य के विरुद्ध खड्गहस्त होकर मोर्चा लेना जानता है— अपना सर्वनाश करके जो भिड़ना चाहता है । वे मनुष्य को देवता बनाकर पूजा करने के विरोधी हैं, और उन्हें मनुष्य अपने सभी गुण दोषों से युक्त देखना प्रिय है । वे पुण्य को ही नहीं पाप को भी प्यार करते हैं । वे मानवीय कुंठाओं को उभार कर पाप और पुण्य का सम्यक विश्लेषण एवं शिक्षण कर सकने वाले साहित्यकार हैं । उग्रजी में जिन्हें दोष ही दोष दिखाई देते हैं, उनकी दृष्टि एकांगी है । यह ठीक है कि उग्रजी ने जो क्षेत्र अपने लिये चुना है, वह विकृत और भयानक है । परन्तु वह सब कुछ समाज में नहीं है या इस प्रकार जीवनयापन लोग नहीं करते, यह कहना आत्मप्रवंचना ही होगी । उग्रजी मनुष्य को उसके प्रकृतरूप में ही देखने के अभ्यासी हैं । वे लिखते हैं:—मेरे खतरनाक जीवन में ऐसे कोलाहलकारी संस्मरणों की भरमार है, जिन्हें यदि रेकार्ड पर उतार दिया जाय तो संबन्धित महानुभाव फरिश्ते नहीं आदमी नजर आने लगें ।" उनकी यह घोषणा क्या अनुचित है ? उग्रजी का जीवन जहाँ बड़ा ही मार्मिक और संघर्षपूर्ण रहा है, वहाँ चरित्र की दृष्टि से और प्रचलित अर्थों में नैतिक दृष्टि से उस धरातल से बहुत दूर रहा है, जिसे आदर्श कहा जा सके । मगर आदर्श के प्रतिनिधित्व का दावा उग्रजी ने कभी नहीं किया । तो क्या जिस नग्न यथार्थ को आपादमस्तक उन्होंने स्वीकारा, उसकी चर्चा करना कोई अपराध है ? नहीं, जो व्यक्ति जिस पक्ष का जानकार है वह उसी को अच्छे ढंग से रख सकता है । किसी गणितज्ञ का ड्राइंग मास्टर होना जरूरी नहीं है । और जैसे किसी दर्शन-शास्त्री से गाना गवाना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार किसी लेखक को इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, कि वह केवल वही लिखे जिसे अन्य विशेष कोई चाहता है ।

उग्रजी जहाँ हिन्दी-जगत में एक विशेष क्षेत्र, विशेष जीवन-दर्शन और विशेष भाव-जगत के प्रतिनिधि कलाकार हैं, वहाँ हिन्दी के अन्यतम

शैलीकार है। उनके कथ्य पर लोग झुझंला भी सकते हैं—क्रोध कर सकते हैं, परन्तु उनकी कथा शैली पर कोई भी, फिर चाहे प्रबल विरोधी ही क्यों न हो, मुग्ध हुए बिना नहीं सकता। भाषा का प्रवाह और सुबोधता तो उनकी शैली का प्रमुख गुण है ही, साथ ही व्यंग्य की जैसी सीधी अभिव्यक्ति उनकी शैली में होती है, वह बेजोड़ है। कठोर व्यवहार और मर्मान्तक चोट करने वाले जीव हैं उग्रजी। उनके विरुद्ध हिन्दी-जगत में अनेक अवसरों पर भीषण रोष-तोष का ज्वार भाटा आया है। कुछ ने उन्हें ठुकराया नगण्य मानकर और कुछ ने अपनाया प्रतिभाशाली एवं महत्वपूर्ण जान मान कर। जीवन के न जाने कितने रास्ते उल्टे-सीधे उन्होंने नापे हैं। घुटन, अवसाद, वेदना, और अपमान के कितने ही घूंट नहीं, घड़े उन्होंने पिये हैं। फिर भी जो अपने अभिमान को लेकर जिया है, न झुका न टूटा। ऐसे व्यक्ति की 'आत्मकथा' और 'अत्म-संस्मरणों' का महत्व निर्विवाद है। उग्रजी ने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे करने पर अपनी 'आत्मकथा' के रूप में 'अपनी खबर' लिख कर प्रकाशित कराई है। यद्यपि 'अपनी खबर' में उग्रजी ने अपने प्रारंभिक २१ वर्ष का वर्णन प्रस्तुत किया है, और उसी में 'जीवन-संक्षेप' शीर्षक अध्याय में घटना और कार्य विशेष की ओर इंगित मात्र किया है, फिर भी 'अपनी खबर' आत्मकथा नहीं है। उसे आत्मकथात्मक संस्मरण ही कहा जा सकता है। इसी ढंग की चीज पहलेही आचार्य पं किशोरी दास जी वाजपेयी "अपने साहित्यिक जीवन के संस्मरण औरअनु भव" नामक पुस्तक में प्रस्तुत कर चुके हैं। साहित्य जगत में आचार्य वाजपेयी जी की वह कृति भाव, भाषा-शैली और घटनाओं की दृष्टि से अन्यतम कृति है-श्रेष्ठ रूप में मील के पत्थर के समान। हां, तो उग्रजी की 'अपनी खबर' भी 'आत्मकथा' न होकर 'आत्मकथात्मक संस्मरण' है। फिर भी जिन घटनाओं, तथा व्यक्तियों का उन्होंने वर्णन किया है, वह उनकी आत्मकथा के अत्यन्त मार्मिक और महत्वपूर्ण अंश हैं। शैली का सौन्दर्य तो उनका प्राकृतिक गुण है। परन्तु, घटनाओं का सही वर्णन और चरित्र के बेलौस चित्रण के अभाव में कोई भी आत्मकथा प्रभावशाली नहीं हो सकती। 'आत्मकथा' लेखक का अनिवार्य गुण है, कि

तत्वदर्शी की भांति गत घटनाओं को 'तटस्थभाव से अंकित करे, और उनका विश्लेषण पूरी ईमानदारी के साथ करे। आत्मवर्णन में दुराग्रही न हो और अपने चरित्र को अहंकारवश ऊँचा अथवा अति विनयभाव से हीन होकर, नीचा बनाकर प्रदर्शित न करे। रेखाचित्र, जीवन चरित्र, कहानी, निबन्ध आदि में लेखक का संतुलन यदि कमोवेश रहे तो वह दोष नहीं है, मगर आत्मकथा के लेखक को यह छूट नहीं मिलती। आत्मकथा–लेखक के लिये जितनी ही जरूरत ईमानदारी से वस्तु को देखने और समझने की है, उतनी ही सन्तुलन कायम रखने की भी। जिस आत्मकथा में व्यर्थ अभिमान, अनावश्यक घटनाओं का घटाटोप एवं आवश्यक तत्वों के प्रति असावधानी बरती जायेगी, वह आत्मकथा कभी भी न प्रेरक हो सकती है और न स्थायी महत्व की।

आत्मकथा के लिये ऊपर जिन तत्वों की चर्चा की गई है, वही तत्व आत्म-कथात्मक संस्मरणों के लिए भी आवश्यक हैं। उग्रजी 'अपनी खबर' में उपर्युक्त तत्वों में पूरी तरह से खरे उतरे हैं, यह कहना गलत होगा; परन्तु उन तत्वों के प्रति वे असावधान नहीं रहे। यह बात उन्हीं के शब्दों से प्रकट होती है:—

"अपनी याददाश्त पब्लिक की जानकारी के लिए लिखने में आत्म-प्रशंसा और अहंकार-प्रदर्शन का बड़ा खतरा रहता है। ऐसे संस्मरणों में किसी एक मन्द घटना के कारण अनेक गुणसम्पन्न पुरुषों पर अनावश्यक आंच भी आ सकती है।"

(पृष्ठ १२)

परन्तु उग्रजी अपनी इस विवेक-तुला पर 'अपनी खबर' के सभी अध्याय को नहीं तौल सके हैं। 'पं० कमलापति त्रिपाठी' शीर्षक अध्याय में उग्रजी का स्वाभिमान (अभिमान ?) उग्र बनकर फूट पड़ा है। परन्तु उसमें कमलापति त्रिपाठी के चरित्र पर बारीकी से जो प्रकाश पड़ गया है, वह निश्चय ही उनकी सधी कलम का परिणाम है। उग्रजी ने दूसरों के

प्रति जितनी निर्ममता से लिखा है—अपने लिए भी उन्होंने उसी निर्ममता और सचाई को छोड़ नहीं दिया। और यह बात बड़ी बात है, जो एक आत्म-कथात्मक संस्मरण लिखने वाले के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। अपनी कमजोरियों का वर्णन भी उन्होंने उसी सहज भाव से किया है। 'मतवाला' संचालक की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं:—

"जब तक महादेव प्रसाद सेठ थे, मैं उन्हें गालियां ही देता रहा। और वह थे कि मेरा मुँह न देख मुझमें जो कलाकार था उसी को सराहते-चाहते थे।

लेकिन दबते नहीं थे महादेव सेठ! दार्शनिक की तरह अनादर आदर के ऊपर ही रहते थे वह। एक ही दिन उन्होंने मेरे दुर्वचनों का विरोध किया, और मुझे ऐंठ कर रख दिया था। 'महाराज' उन्होंने हुक्के की कश का धुआँ लम्बी मूंछों से छोड़ते हुए कहा:—

'आप गाली ऐसे को दिया करें जो आपको उसका उत्तर दे। मैं चुप रहूँ, आप गालियां देते रहें, आप कायर हो जायेंगे।'

महादेव प्रसाद सेठ के इस अहिंसक बाण ने मेरे प्राणों को कंपा, हिला, झकझोर कर रख दिया। हम दोनों एक ही कमरे में पांच गज के फासले पर सोया करते थे। पिछली रात तक मैं घुटता रहा। अन्त में मैंने उन्हें जगाया ही—"महादेव बाबू, मैं आप से माफी मांगता हूँ, मुझे नींद नहीं आ रही।" (पृष्ठ १४)

उपर्युक्त घटना का उल्लेख जिन शब्दों में किया गया है, वह निश्चय ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि थोड़े से शब्दों में ही जहाँ आत्मकथाकार ने अपनी कमजोरी का वर्णन बड़ी ईमानदारी से कर दिया है, वहीं सम्बन्धित पात्र महादेव बाबू का चरित्र भी इतनी कुशलता के साथ उभार दिया है जो कुशलतम कलाकार ही कर सकने में समर्थ है। उग्रजी ने अपनी कमजोरी को

छिपाने का प्रयास नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि ऐसी बहुत सी घटनायें उनके चरित्र सम्बन्धी होंगी जो यदि वे लिखते तो उनके अच्छे पूरे स्वरूप को और भी स्पष्ट करतीं, परन्तु 'आत्मकथा' न लिखकर उन्होंने आत्मकथात्मक संस्मरण लिखे हैं। अतः घटनाओं के वर्णन और व्यक्तियों के चरित्र-चित्रण के लिए अपने मनोनुकूल घटना तथा पात्रों को चुनने की स्वतन्त्रता उन्हें सहज ही मिल गई। फिर भी जिन घटनाओं तथा पात्रों को उन्होंने इसमें लिया है, उन पर लिखते हुए अपने को भी उन्होंने अछूता नहीं छोड़ दिया। क्रान्तिकारी कार्यों में शचीन्द्रनाथ सान्याल तथा अन्य क्रान्तिकारियों के साथ इलाहाबाद जाना और योगेश दादा के सामने मौके पर कायरता से पीठ दिखाकर भागने की घटना भी उग्रजी ने बेलौस लिखी है। यह उनकी विशेषता ही कही जायगी। उग्रजी ने 'अपनी खबर' सत्रह सर्गों में दी है, जिनके नाम हैं--दिग्दर्शन, प्रवेश, अपनी खबर, धरती और धान, चुनार, नागा भागवत दास, राममनोहरदास, भानुप्रताप तिवारी, बच्चा महाराज, पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, पं० कमलापति त्रिपाठी, बनारस और कलकत्ता, जीवन-संक्षेप, असंबल-गान। उपर्युक्त शीर्षकों में प्रथम शीर्षक 'दिग्दर्शन' है जिसमें गोस्वामी तुलसीदास जी की विनय पत्रिका के एक पद की व्याख्या दी गई है। इस पद को गोस्वामी जी ने अपनी विनयशीलता के कारण लिखा होगा, परन्तु उग्रजी ने अपने यथार्थ जीवन का परिचय देने के लिए उसकी छाया ग्रहण की है। 'प्रवेश' में उग्रजी ने 'मतवाला' संचालक महादेव प्रसाद सेठ तथा निराला जी विषयक महत्वपूर्ण संस्मरण प्रस्तुत किये हैं, तीसरा सर्ग 'अपनी खबर' शीर्षक में उग्रजी ने अपने जन्म, माता-पिता, भाई तथा बाल्यकाल के वातावरण का परिचय दिया है। इन शब्दों में उन्होंने इस सर्ग का प्रारम्भ किया है:—

"मनकि बेचन पाण्डे वल्द बैजनाथ पाण्डे, उम्र साठ साल, कौम बरहमन, पेशा अखबार नवीसी और अफसाना नवीसी, साकिन मुहल्ला सुद्दूपुर, चुनार, जिला मिर्जापुर (यू० पी०) हाल मुकाम कृष्णनगर दिल्ली ३१

आज जिन्दगी के साठ साल सकुशल समाप्त हो जाने के उपलक्ष में उन्हें जो कि मुझे कम या वेश जानते हैं, अपने जीवन के आरम्भिक बीस वर्षों की घटनाओं से कसमसाती कहानी सुनाना चाहता हूँ—विक्रमीय सम्वत् के १९५७ वें वर्ष के पौष शुक्ल अष्टमी की रात साढ़े आठ बजे मेरा जन्म यू० पी० के मिर्जापुर जिले की चुनार तहसील के सुद्दूपुर नामक मुहल्ले में बैजनाथ पाण्डेय नामक कौशिक गोत्रोत्पन्न सरयूपारिण ब्राह्मण के घर पर हुआ।

"मेरी माता का नाम 'जयकली' था जिसे बिगाड़ कर लोग जयकल्ली पुकारते थे। मेरे पिता तेजस्वी सतोगुणी वैष्णव हृदय के थे। मेरी माता ब्राह्मणी होने के बावजूद परमउग्र कराल क्षत्राणी स्वभाव की थीं। मेरे एक दर्जन बहिन-भाई थे, जिनमें अधिकतर पैदा होते ही या साल दो साल के होते ही प्रभु के प्यारे हो गये थे।...... अतः मेरे जन्म पर कोई खास उत्साह नहीं प्रकट किया गया।...... मैं भी कहीं दिवंगत अग्रजों की राह न लगूं, अतः तय यह पाया गया कि पहले तो मेरी जन्म कुन्डली न बनाई जाय, साथ ही जन्मते मुझे यारों ने बेच डाला, और किस कीमत पर ? महज एक टके पर। उसका भी गुड़ मंगाकर मेरी माँ ने खा लिया था। अपने पल्ले उस टके में से एक छदाम नहीं पड़ा था जो मेरे जीवन का सम्पूर्ण दाम था। अलवत्ता जन्मजात बिका का बिल्ला जैसा नाम तौक की तरह गले मढ़ा गया—'बेचन'।" (पृष्ठ १७-१८) 'धरती और धान' शीर्षक अध्याय में उग्र जी ने अपने परिवार व उसके आर्थिक ढाँचे का खाका खींचा है। इस सर्ग में उन्होंने अपने पिता व भाई के चरित्र का भी हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। उग्रजी का बालकपन जिस माहौल में पनपा यह उन्हीं के शब्दों में पढ़ लीजियेः—

"मेरे घर में जुआ अक्सर हुआ करता। अक्सर जुए से जब नाल की रकम वसूल होती तब मेरे घर में भोजन की व्यवस्था होती थी।......मेरी माँ और भाभी को मकान के पिछले खण्ड में कैदकर मेरा भाई निचले खण्ड में जुए का फड़ डालता, मुहल्ले, कस्बा और आसपास के गांवों के भी शातिर

जुआरी जुड़ते । चरस और गांजे की चिलमें लपलपातीं, कौड़ा यानी विकट देशी दारू की दुर्गन्धमयी बोतलें खुलतीं ।'' (पृष्ठ २४-२६)

'चुनार' शीर्षक अध्याय इस पुस्तक का उत्कृष्ट अध्याय है । इसमें उग्रजी ने अपनी जन्मभूमि का जैसा सुन्दर शब्द चित्र खींचा है, वह कला की दृष्टि से तो महत्तम है ही, साथ ही चुनार के प्राकृतिक सौन्दर्य एवं उसके भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक विश्लेषण के अतिरिक्त शासित भारतीय समाज और शासक अंग्रेज जाति के व्यवहार पर जिस ढंग से संक्षिप्त प्रकाश डाला है, वह प्रशंसनीय है । अपनी जन्मभूमि चुनार का भगवान राम की अयोध्या से तुलनात्मक वर्णन करके उग्रजी ने अपनी शैली के चमत्कार का भी दिग्दर्शन करा दिया है ।

'नागा भागवत दास' तथा 'राममनोहर दास' नामक अध्याय में उग्र जी ने अपने दोनों बड़े भाइयों तथा स्वयं का राम–लीला मण्डली के अभिनेता–जीवन का वर्णन किया है । इन राम–लीला मंडलियों के .अभिनेता के रूप में उग्रजी ने उत्तर प्रदेश, पंजाब, सीमाप्रान्त तक घूमा था । भागवतदास और राममनोहर दास के चरित्र को स्पष्ट करते हुए उग्रजी ने थोड़े से शब्दों में ही उन दोनों साधुओं की प्रकृति एवं चरित्र का स्पष्ट वर्णन कर दिया है ।

'बच्चा महाराज' शीर्षक अध्याय में उग्र जी द्वारा लिखा गया, एक उत्कृष्ट रेखा चित्र है । बच्चा महाराज के चरित्र–चित्रण में उग्र जी ने अपनी कुशल लेखनी का चमत्कार दिखाने में कसर नहीं रक्खी है । बच्चा महाराज बुरे ही सही, परन्तु उनका रेखाचित्र तो अच्छा ही बन गया है ।

'पं जगन्नाथ पाण्डेय' अध्याय में उग्र जी ने अपने चाचा का परिचय दिया है, और उनकी गोद जाने, पढ़ाई का प्रारम्भ, फिर उनसे अलग होने तथा काशी में बाबू शिवप्रसाद गुप्त के अन्न से जीवन-यापन करने की घटनायें संक्षेप में वर्णित की हैं ।

'लाला भगवानदीन' शीर्षक अध्याय में उग्र जी ने अपनी साहित्य-सर्जना की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन किया है। इसी अध्याय में काशी के साहित्यिक-समाज तथा अपने समकालीन लेखकों, कवियों का उल्लेख किया है। इसी में लाला जी की साहित्य-प्रतिभा पर भी प्रकाश डाला है।

'पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर' नामक अध्याय में उग्र जी की साहित्य-साधना का परिचय है। पराड़कर जी की महत्ता-क्षमता-प्रतिभा को पहचानने की उनकी सामर्थ्य और उसे बढ़ाने की प्रकृति का निर्मल वर्णन किया है उग्र जी ने। इस पुस्तक का यही एक ऐसा अध्याय है, जिसके प्रमुख पात्र पराड़कर जी के प्रति जितनी श्रद्धा और शालीनता से उग्रजी ने लिखा है जहाँ पराड़कर जी की महानता का द्योतक है, वहीं उग्र जी के श्रद्धा-भक्ति से भरे हृदय की झाँकी का प्रदर्शन भी है। इसी अध्याय में उग्रजी ने अपने साहित्यिक जीवन का विकास-क्रम, 'ज्ञान मंडल' में प्रवेश, 'आज' के सम्पादक श्री प्रकाश जी द्वारा विना पढ़े, उनकी कहानी अस्वीकार करना और फिर उसी 'आज' में दूसरे नाम से वही कहानी छपना, पराड़कर जी का वरहस्त प्राप्त होना इत्यादि घटनायें-वर्णित हैं।

'बाबू शिवप्रसाद गुप्त' शीर्षक से उग्रजी ने गुप्त जी की दान-शीलता तथा उनके जीवन-क्रम पर एक उड़ती हुई-सी दृष्टि डाली है, और इसमें भी उनके चिरपरिचित स्वभाव का परिचय मिल ही जाता है। इस अध्याय में उग्र जी की नास्तिकता भी कुछ तीव्र होकर सामने आई है। देश-भक्त, उदार दान-शील शिवप्रसाद गुप्त और धूर्तज, वेश्यागामी, सर्वभक्षी, सर्वभोगी बच्चा महाराज के जीवन की तुलनात्मक चर्चा करके उग्रजी ने अपनी व्यंग्य-शक्ति का भी प्रदर्शन कर दिया है। वैसे बाबू शिवप्रसाद गुप्त की प्रशंसा करने में उग्रजी ने कसर नहीं रक्खी है, जो उनके कृतज्ञता-प्रदर्शन का ही परिणाम है।

'पं० कमलापति त्रिपाठी' शीर्षक अध्याय में उग्रजी के उस रूप के दर्शन करने को मिल जाते हैं, जिसे देखकर लोग प्राय: उन्हें अक्खड़-अहंकारी

और उद्दण्ड का फतवा देने के अलावा और कुछ नहीं सोचते। इस अध्याय में कमलापति त्रिपाठी का चरित्र जैसी सधी कलम से उग्रजी चित्रित कर सके हैं, शायद और कोई न कर पाता। इस अध्याय में उग्र जी की उग्रता चरम सीमा को पहुंची है।

'बनारस और कलकत्ता' अध्याय में उग्रजी ने उपर्युक्त दोनों शहरों के सामाजिक जीवन का एक चित्र खींचा है। साथ ही १९२० में कलकत्ता पहुंचने पर 'विश्वमित्र' के संचालक मूलचन्द अग्रवाल का प्रथम दर्शन, कलकत्ता–राष्ट्रीय कांग्रेस-अधिवेशन एवं उग्र जी की पहली और अन्तिम नौकरी का वर्णन हुआ है।

उग्र जी की आत्मकथा में मतवाला-मण्डल, फिलमी दुनियाँ और घासलेट आन्दोलन तथा कलकत्ता के 'विश्वमित्र' सम्बन्धी घटनाओं की विस्तृत जानकारी न होने का अभाव खटकता है। उग्र जी ने 'अपनी खबर में' चारित्रिक दृष्टि से गलीज़ कही जाने वाली चीजों का जैसा प्रबल पक्ष मार्मिक ढंग से चित्रित किया है, वैसा हिन्दी–साहित्य, विकास-क्रम, उनका योग एवं उनके समकालीन सहयोगी आदि पर बहुत कम या कुछ न लिख कर एक महत्वपूर्ण अंग को छोड़ दिया है। 'असंबलगान' शीर्षक अन्तिम अध्याय में उन्होंने अपनी तीन कवितायें उद्‌धृत की हैं जो सुन्दर हैं, उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय देती हैं। परन्तु इस पुस्तक में हम और कुछ भी आशा करते थे। क्योंकि उग्र जी का जीवन और साहित्य के प्रति जो दृष्टिकोण सदैव रहा है, उसमें परिवर्तन अथवा उसके क्रमिक विकास का सम्यक चित्रण अपेक्षित था। परन्तु यह शायद उग्र जी ने इस लिए नहीं किया, कि वे 'आत्मकथा' न लिखकर अपने जीवन के छुटपुट संस्मरण ही लिख रहे थे। इसमें दो मत नहीं हो सकते, कि पुस्तक महत्वपूर्ण है और उसका लेखक भुलाने काबिल नहीं है। उग्र जी जिस तूफान को लिए हुए बैठे हैं,—हम चाहते हैं कि वे उसे बाहर निकालें। उस तूफान की गति का लोग स्वागत करेंगे। और, जो धुन्ध होगी, वह स्वयं ही छँट जायेगी।

———

स्थायी साहित्य और उसके मानदण्ड

साहित्य में स्थायी तत्व नाम की कोई वस्तु है या मानी जानी चाहिए, इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मुख्यतः प्रगतिवादी अर्थात् मार्क्सवादी समीक्षक स्थायी साहित्य जैसी किसी विशिष्ट मान्यता को स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत सौंदर्यवादी तथा शास्त्रीय पक्ष को महत्व देने वाले विद्वान साहित्य के स्थायी और अस्थायी स्वरूप को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जीवन के निरन्तर परिवर्तित होते रहने के कारण साहित्य भी सदैव एक जैसा नहीं रहता और न उसकी मान्यतायें ही एक रहा करती हैं; तथापि जैसे गतिशील जीवन के परिवर्तित स्वरूप के रहते उसमें कुछ शाश्वत भी रहता है जो कभी भी नहीं बदलता और जो चिर नवीन एवं जीवन्त ही रहता है, उसी प्रकार साहित्य की अनन्त सृजन प्रक्रिया में भी सामयिकता के साथ-साथ कुछ वह भी रहता है जो अनश्वर होता है। मानवजीवन इतना जटिल है, उसके मन की गति इतनी चंचल है कि उसे किन्हीं विशेष शब्दों में बाँध देना बड़ा कठिन है। सच तो यह है कि मानव का निर्माण जिन धातुओं से हुआ है उनकी सर्वमान्य व्याख्या करना भी सरल नहीं है। फिर भी नश्वर जगत की अनश्वर आस्था ने उसे सदैव मृत्यु से अमरत्व की आकांक्षा प्रदान की है। यह आकाँक्षा सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर भी शिथिल नहीं हुई है। जरा-मरण से चिर परिचित मानव अपने को अजर-अमर बनाने की क्रिया से आज भी विरत नहीं हो सका है; और जब मानव ही अपने में नश्वर होकर अपने प्रयत्नों में अनश्वर है, तो उसके द्वारा सृजित साहित्य में स्थायी जैसी चीज होना अनिवार्य है।

प्रश्न उठता है कि स्थायी साहित्य किसे कहा जाय? इस पर विचार करने के पूर्व हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि साहित्य का सृजन

जिन कारणों, परिस्थितियों और प्रभावों से होता है उनको दृष्टि में रखते हुए उसे अस्थायी और स्थायी दो स्थूल पक्षों में विभाजित करने वाली कोई रेखा नहीं खींची जा सकती, जिसको खींच देने के बाद यह कहा जा सके कि रेखा के एक ओर स्थायी और दूसरी ओर अस्थायी विद्यमान है। स्थायी और अस्थायी जैसे पक्षों में साहित्य को बाँट कर न तो किसी भी भाषा के साहित्य के साथ हम न्याय कर सकते हैं और न वैसा करना समीचीन है; क्योंकि देश, काल, पात्र, समाज, धर्म, अर्थ इत्यादि ऐसे बहुत से कारक हैं जो साहित्य-सृजन का माध्यम बनते हैं। स्वयं साहित्यकार भी उन स्थितियों से असम्पृक्त नहीं होता। कितना ही महान कलाकार क्यों न हो, अपनी कृति के माध्यम से जहाँ उच्चतम विचारों का प्रतिपादन करता है वहाँ अपने दृश्यमान जगत के किसी तथ्य, पक्ष अथवा विचार का समर्थन या विरोध करता है। उद्देश्य के बिना श्रेष्ठ रचना करना असम्भव-सा ही है। निरुद्देश्यता साहित्य में ही नहीं कला के प्रत्येक क्षेत्र में असम्भाव्य है। यह दूसरी बात है कि उद्देश्य अच्छा है या बुरा। इसकी परिभाषा देश-काल सापेक्ष्य है। बँगला के अमर कथाकार शरत् ने अपने एक पत्र में लिखा है कि 'मैं निरुद्देश्य नहीं लिखता' उद्देश्य की व्यापकता और संकुचितता साहित्यकार की क्षमता पर निर्भर करती है। स्वर्गीय प्रेमचन्द के मतानुसार 'साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।' प्रेमचन्द जी के विचार निश्चय ही सत्य के निकट हैं और विश्व के बड़े-बड़े साहित्यकारों की कृतियाँ इसके प्रमाण में रक्खी जा सकतीं हैं। चाहे स्वदेश के कालिदास, तुलसी, रवीन्द्रनाथ, प्रसाद हों और चाहे विदेश के शेक्सपियर, मिल्टन, शेली, कीट्स, पुश्किन, टाल्सटाय, गोर्की, तुर्गनेव, ज्विग, दास्तोवस्की प्रभृति हों, सभी की रचनाओं में देश-काल विशेष के अन्तर्गत ही सार्वभौमिकता विद्यमान मिलेगी। स्थायी

साहित्य के आधार-स्तर पर विचार करते हुए हमें जहाँ मानवीय संवेदना को सर्वोच्च स्थान देना आवश्यक है, वहाँ मानवीय सीमाओं को भी स्थान देना होगा। प्रेमचन्द जी का मत साहित्य और साहित्यकार की इस विशिष्ट सृष्टि और दृष्टि की ही घोषणा है।

कलाकार की सामर्थ्य ही उसकी रचना को व्यापकता प्रदान कर सकती है। अत: उसकी दृष्टि जो कुछ देखती और बुद्धि जो कुछ ग्रहण करती है, रचना का केन्द्र विन्दु बनते हैं। यह दूसरी बात है कि कोई उसे लोक-मंगल कहे या कोई सौंदर्य की संज्ञा दे, अन्ततः परिणति समान है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की दृष्टि में साहित्य को लोकमंगलकारी होना चाहिए। उनका कथन है—''मांगल्य, जो बहुमुखी मानव सत्य की एकमात्र कसौटी है।'' दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी विचारकों के अनुसार कला की चरम सार्थकता सौन्दर्य में है। जर्मन महाकवि गेटे सौंदर्य को विश्व का सृष्टा कहते हैं। ''सौंदर्य ही सब कुछ है'' यह कीट्स की उक्ति तो जगतप्रसिद्ध है।

यूँ तो कलाकार को किसी भी वाद में बाँध कर देखना समीचीन नहीं; परन्तु दृष्टिकोण की विभिन्नता कोई न कोई संज्ञा दिये बिना स्पष्ट नहीं होती; अत: 'वादों' के सन्दर्भ में ही यदि विश्व-साहित्य की अमर कृतियों का पर्यालोचन करें तो हम एक ही निर्णय पर पहुँचेंगे कि उन अमर कलाकृतियों के निर्माताओं की सामर्थ्य औसत कलाकारों से कहीं ज्यादा थी। यह सामर्थ्य उनमें तीव्र अनुभूति, गहन अध्ययन, हृदय की पवित्रता और संघातों के कारण उत्पन्न हुई। जिस कलाकार में जो भी पक्ष अधिक प्रभावशाली बना, वही उसकी रचना का मूल स्वर बन गया। फलस्वरूप गहराई के कारण उसमें सार्वभौमिकता की रक्षा भी हो सकी। सार्वभौमिकता के लिए उदात्तता अनिवार्य है। आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ का नाम लिया जा सकता है जिन्हें आज विश्वकवि की पदवी से विभूषित किया जाता है। उनकी कविता केवल बंगाल और भारतदेश तक सीमित न रहकर पूरे विश्व के प्रांगण में प्रतिष्ठित

हुई है। उनकी रचनायें मानवमात्र के लिए प्रिय और महत् इसीलिए हैं कि उनकी संवेदना सार्वभौमिक है। प्रेम, प्रकृति और दर्शन की रचना में ही नहीं वरन् उनकी वे रचनायें भी जो देश-काल अथवा किसी सीमाविशेष के सन्दर्भ में रची गईं, उनमें भी उनकी दृष्टि व्यापक और सार्वाभौमिक रही है। बिदाय अभिशाप; गान्धारीर निवेदन जैसी रचनाओं में भी उनकी वह उदात्त भावना जो विश्वमानव की थाती है और मात्र जिसके आधार पर ही मानव-मानव का सम्बन्ध अटूट बना हुआ है; रवीन्द्रनाथ में अधिकता के साथ विद्यमान है। वस्तुत: स्थायी साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्ण सत्य को उद्‌धाटित कर सके। खण्डित सत्य को प्रस्तुत करने वाली रचना प्रभावशाली हो सकती है— लोकरंजन भी कर सकती, परन्तु वह चिरस्थायी नहीं बन सकती। यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि किस चीज को आप खण्डित और किसे अखण्डित समझते हैं, वरन् इस बात का है कि मानवीय धरातल पर जो अखण्डित, पूर्ण और खरी उतरती है, वही मानव मात्र का चरम सत्य है। उसकी उपेक्षा करके न कोई रचना स्थायी बन सकती है और न कोई साहित्यकार प्रतिनिधि कलाकार की कोटि में बैठ सकता है।

अपने देश में ही नहीं, समूचे विश्व में साहित्य-रचना पूरे वेग से होती है और उसका प्रकाशन भी हो जाता है; परन्तु उसमें से अधिकांश अल्प समय में ही काल-कवलित हो जाती है।

सच तो यह है कि स्थायी साहित्य के लिए विश्व-चिंतन का आधार सब लोग ग्रहण नहीं कर पाते, कर भी नहीं सकते। साथ ही वैयक्तिक रूप में भी कलाकार की जिस 'सत्यता' को समाज ग्रहण करता है वह भी सब के बूते की बात नहीं। इसके लिए विशाल हृदय, उदात्त दृष्टिकोण और उद्देश्य के प्रति गहरी निष्ठा की अपेक्षा होती है जो साधारण कोटि के कलाकार में सम्भव नहीं। असाधारण कृतित्व के लिए असाधारण व्यक्तित्व की भी अपेक्षा होती है। टालसटाय ने कला सम्बन्धी अपने विचारों को प्रकट करते हुए स्थायी

रचना के लिए तीन प्रमुख गुण बताए हैं। उनके कथनानुसार वस्तु, रूप और निष्ठा के अभाव में किसी भी महान् कलाकृति की उद्भावना सम्भव नहीं। टालसटाय की मान्यता है कि जो मनुष्य की दृष्टिपरिधि को विस्तीर्ण करे, उसे ही कला की संज्ञा दी जा सकती है। मानव जाति को जो कुछ भी नवीनता प्रदान करे और जिसमें कुछ एकदम नवीन और श्रेष्ठ का दर्शन हो वही सच्ची कृति है और वही स्थायित्व प्राप्त करने में सक्षम है। कहा जा सकता है कि टालसटाय आदर्शवादी विचारक हैं; परन्तु जो सौन्दर्यवादी, प्रगतिवादी आभिजात्यवादी हैं उनकी कलाविषयक मान्यता क्या मानव-उत्कर्ष से असम्पृक्त है? आज जिस व्यक्तिवाद की प्रचुरता साहित्यचिंतन के क्षेत्र में देखने को प्रायः मिला करती है वह भी समाज की उपेक्षा नहीं कर सकती। वस्तुतः रचना की महत्ता मानवीय उपयोगिता से परे है ही नहीं। जन्म से मनुष्य जैसा कुछ है वैसा ही उसे सदैव कोई रखना चाहे तो वह कितना विचित्र लगेगा। प्रकृति से मनुष्य रागी है तो त्याग भी उसकी अनन्य सम्पत्ति है। यदि कोई कलाकार उसके राग के हर रूप को चित्रित करके मनुष्य को वासना का पुतला बनाकर चित्रित करे तो यह कला में खण्ड सत्य ही होगा। अखण्डित अर्थात् स्थायी रचना में मानव के पूर्ण सत्य का ही चित्रण अपेक्षित होगा। सामाजिक दायित्व को कोई भी इकाई भुलाकर अमरत्व ग्रहण नहीं कर सकती। यद्यपि इतिहास में दोनों ही पक्ष चर्चा का अधिकार ले लेंगे; परन्तु जहाँ साहित्य के स्थायी पक्ष का प्रश्न उठेगा, अखण्डित सत्य का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना ही प्रमाण स्वरूप रक्खी जा सकेगी।

यह भी विचारणीय है कि क्या किसी जाति, धर्म, राष्ट्र, समुदायविशेष को लेकर रची गई अमर रचनाओं को स्थायी साहित्य नहीं माना जाएगा; परन्तु इसी प्रश्न का उत्तर ऊपर प्रेमचन्द के शब्दों में दिया जा चुका है। वस्तुतः स्थायी साहित्य में स्थान देते समय हमें कृति की सार्वभौमिकता को ही सर्वोपरि स्थान देना होगा। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि बहुत सी ऐसी रचनायें होती हैं जो किसी काल विशेष में स्थायी जान पड़ती हैं और

परिस्थितियों के बदल जाने के बाद महत्वहीन हो जाती हैं। भले ही इतिहास-चर्चा में उनका उल्लेख होता रहे। कुछ ऐसी भी कृतियाँ मिलेंगी जिनकी रचना एक विशेष उद्देश्य और सीमित क्षेत्र को लेकर होती है; परन्तु उनका स्थायित्व कोई छीन नहीं पाता। यहाँ हम 'रामचरित मानस' को उदाहरण-स्वरूप ले लें। मानस के स्थायित्व से कौन अपरिचित है? उसकी महत्ता और उत्कृष्टता को कौन नहीं सराहता? कौन उसके कलासौंदर्य और उदात्त जीवनदृष्टि पर मुग्ध नहीं होता? फिर भी मानस के स्थायित्व को परखने की दृष्टि सब में समान नहीं है। हिन्दू उसे जिस दृष्टि से देखते हैं. वह दृष्टि विभिन्न धर्मावलम्बी भारतीयों की नहीं है और जिस दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय समाज उसे देखता है, वह विश्व के विचारकों की नहीं है। मानस के पात्र, चरित्रचित्रण, भावप्रवणता, उद्देश्य, कलातमक सौंदर्य, अद्‌भुत संगठन क्षमता और एक विशाल देश की महान संस्कृति की विशिष्ट अभिव्यक्ति ऐसे गुण हैं जो उसके स्थायित्व को कभी भी छीन नहीं सकते; परन्तु मानस में प्रतिपादित धार्मिक और जातीय विचारों को वह स्थान आज नहीं मिल सकता जो उसे उसकी रचना के वक्त मिला। मानस में मानवीय पक्ष को महान कवि तुलसीदास ने जितने ज्वलंत रूप में चित्रित किया है उसकी महत्ता को शायद ही कोई अस्वीकार कर सके; परन्तु हिन्दू तुलसी, ब्राह्मण तुलसी और वैष्णव तुलसी की समस्त मान्यतायें आज विश्व की पीठिका पर सभी लोग स्वीकार नहीं कर सकते। फिर भी मानस की यह एक महान सफलता ही कही जा सकती है कि इतने बड़े काव्य के निर्माता व महान कलाकार तुलसीदास ने अपनी इस कृति में कर्मोपदेशक, नीति निर्णायक तथा जाति उद्धारक तुलसी को इतनी बारीकी से सँजो दिया है कि उसे निकालकर मानस की सुन्दरता और अमरता को बनाये रखना असंभव है। वस्तुत: यहीं पर कवि-कौशल को भी स्थायी साहित्य का आधार स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। डा० दशरथ ओझा को शायद इसीलिए लिखना पड़ा :—

"किसी भी ग्रन्थ का सम्पूर्ण भाग उत्तम एवं स्थायी काव्य नहीं होता।

उसके कतिपय अंश सामान्य एवं अस्थायी साहित्य के रूप में दिखाई देते हैं। तथापि उत्तम काव्य का स्थायी अंश ऐसा सशक्त होता है और उसकी प्रबन्धात्मकता का प्रवाह ऐसा वेगमय होता है कि उसमें घुल मिल कर अस्थायी साहित्य भी स्थायी एवं गरिमामय बन जाता है।"

दीर्घकाल से भारतीय और यूरोपीय विचारकों ने साहित्य-कला सम्बन्धी अपने अध्ययन को प्रस्तुत करके विभिन्न मान्यताओं को जन्म दिया और उन मान्यताओं को आधार बनाकर या प्रभावित होकर साहित्य का प्रचुर निर्माण भी होता रहा; परन्तु शायद कभी भी अपने युग की कोई महान कलाकृति विचारकों द्वारा प्रस्तुत चौखटे को आधार मानकर नहीं रची गई। शायद अनुकरण के आधार पर भी कोई महान कलाकृति बनी ही नहीं। वह जब भी बनी, तव किसी न किसी प्रकार की नवीनता पैदा करने के पश्चात् ही। टाल्स्टाय का यह कथन महत्वपूर्ण है कि महान कृति में कुछ एकदम नवीन और महत्तम होना चाहिए। स्थायी साहित्य अर्थात् श्रेष्ठ साहित्य के लिए उत्कृष्ट व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। व्यक्तित्व की श्रेष्ठता विचारों की उँचाई तथा कर्म की विशिष्टता के बिना नहीं हो सकती और यह बात हृदय की पवित्रता के अभाव में असम्भव है।

जैसा हमने ऊपर ही कहा है कि स्थायी साहित्य को किसी विभाजक रेखा से स्पष्ट करना कठिन है। फिर भी, कुछ स्थूल सिद्धांत उसके लिए अपेक्षित हैं ही, जिनके द्वारा उसे समझा जा सकता है। श्रेष्ठ अथवा स्थायी साहित्य किसी एक जाति, धर्म, राष्ट्र अथवा भाषा विशेष का नहीं होता। कोई भी ऐसी रचना जिसमें मानव मन की परत उद्घाटित होती हो या उसकी दृष्टि-परिधि का विकास होता हो, फिर वह चाहे किसी सीमाविशेष के अन्तर्गत ही रची गई हो, स्थायी साहित्य की कोटि में आ जाती है; क्योंकि उसमें सीमा विशेष के ही अन्तर्गत जिस विराट् का निदर्शन किया जाता है वह यूनिवर्सल होता है। ऐसी रचनायें विश्व के उन सभी व्यक्तियों को, फिर वे चाहे किसी भी जाति के हों, किसी भी धर्म को मानते हों, किसी भी देश के निवासी हों या किसी

भी भाषा के समझने, लिखने, बोलने वाले हों, समान रूप से आकर्षित करती हैं। ऐसा साहित्य सभी को परिस्थिति के अनुसार समान आनन्द, स्फूर्ति और गति प्रदान करता है। ऐसा ही साहित्य संकुचितता से परे विश्व की निधि कहलाता है और किसी भी भाषा के आवरण में ढल कर भी सर्वजनीन बना रहता है। संक्षेप में, यदि स्थायी साहित्य के तत्वों पर हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि उसके लिए उदात्त जीवनदृष्टि, उद्देश्य की महत्ता, अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता और सार्वभौमिकता की अपेक्षा ही नहीं, ये गुण अनिवार्य हैं; अपितु उदात्त जीवनदृष्टि के अभाव में सर्वजनीनता नहीं आ सकती और उद्देश्यकी महत्ता के बिना कृति गौरवपूर्ण नहीं बनती। अनुभूति की तीव्रता में कलाकार की संवेदना निहित है और अभिव्यक्ति की मार्मिकता में शिल्पकौशल का परिचय मिलता है। सार्वभौमिकता के अन्तर्गत मानव मन का विशाल क्षेत्र, वातावरण और उन सभी भावनाओं का समावेश होता है जो मानवीय राग-विराग पर अवस्थित हैं।

कोई भी महान कृति युग-युग तक प्रभावित करने वाली तभी बनती है, जब उसमें मानवमात्र के लिए कोई संदेश, प्रेरणा और जीवन की दृष्टि रहती है। यदि ऐसा न होता तो आज भी विश्व की महान कृतियाँ मानव मन का अनुरंजन करने के साथ ही मानव-जीवन के विकास-क्रम में कैसे योगदान करतीं ? मैं समझता हूँ कि साहित्य में स्थायी और अस्थायी जैसे प्रश्न की आवश्यकता है और उस पर विशद विवेचन की अपेक्षा भी।

गीत काव्य : बच्चन और उनके परवर्ती गीतकार

जैसे सभी पद्यात्मक पंक्तियाँ कविता नहीं होतीं वैसे ही प्रत्येक संगीत प्रधान रचना गीत नहीं हुआ करती। अंग्रेजी में गेय रचनाओं का विभाजन 'साँग' और 'लिरिक' के रूप में स्पष्ट हुआ है किन्तु हिन्दी में गीतों के लिए ऐसा कोई विभाजन नहीं है। 'साँग' और 'लिरिक' दोनों में गेय तत्व प्रधान होकर भी एक अन्तर तो स्पष्ट है कि एक में सामाजिक भावनाओं का अनगढ़ रूप प्रबल होता है और दूसरे में कलात्मक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है।

हिन्दी में प्रगीत-मुक्तक नाम से जिस काव्य-सृष्टि की चर्चा की जाती है उसका सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के अतिरिक्त ब्रज, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, जैसी हिन्दी की अपनी ही बोलियों के अलावा बंगला, मराठी, गुजराती की महत्वपूर्ण गीत एवं विशिष्ट पद परम्परा के बजाय अंग्रेजी की रोमांटिक काव्यधारा से अधिक है। रोमांटिसिज्म के प्रभाव की प्रतिक्रिया हमें खड़ी बोली काव्य में छायावादी आन्दोलन के प्रारम्भिक काल से ही मिलती है और इसी में हमें आधुनिक हिन्दी गीत शैली का विकास भी देखने को मिलने लगता है। किन्तु 'गीत' अपनी विधा के रूप में अत्यधिक चर्चा का विषय छायावाद के उत्तर काल में ही बना। गीतकाव्य की सृष्टि के साथ उसके प्रभाव का क्षेत्र भी व्यापक होता गया और उस पर विचार विमर्श भी होने लगा। गीत क्या है और गीत ही क्यों ? जैसे प्रश्न उठे और उनका समाधान भी होने लगा। 'गीत' की व्याख्या, प्रभाव और आवश्यकता को लेकर जब जोर शोर से चलने लगी तब सुप्रसिद्ध कवियित्री महादेवी वर्मा ने उसे परिभाषा में बाँधने का उपक्रम किया। उन्होंने कहा "सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" महादेवी जी ने गीतों में आरोपित वैयक्तिकता की

स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा—"व्यक्तिप्रधान, भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक से अधिक अन्तस्तल में समा जाने वाला, अनेक भूले सुख-दुखों की स्मृतियों में प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमल-तम स्पर्श के समान होगा जिसमें कवि ने गतिमय, आत्मानुभूति भावातिरेक को संयत रूप में व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो. . . ." महादेवी जी ने वैयक्तिकता के पक्ष का समर्थन करते हुये लिखा—"आज हमारा हृदय ही हमारे लिये संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं। अपने प्रत्येक काम को अंकित करने के लिए विकल हैं। संभव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कहकर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।" उपर्युक्त शब्दों में महादेवी जी ने जिस ओर इंगित किया है उसकी सत्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः हमारा आधुनिक गीत-काव्य समूह की अपेक्षा व्यक्ति का, शरीर की अपेक्षा हृदय का प्रतिनिधित्व करता है। हम यह भी कह सकते हैं कि मानवीय संवेदना इन गीतों में अधिक गहरी और स्पन्दनशील हो उठी है। यह एक तथ्य है कि उपर्युक्त शब्दों में महादेवी जी ने गीत काव्य का मैनीफैस्टो प्रस्तुत किया। प्रगीत काव्य की समीक्षा करते हुये आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आधुनिक साहित्य' में उसकी सम्यक व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है:—

"प्रगीत काव्य में कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिए स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह से प्रतिविम्बित रहता है। वह कवि की सच्ची अभिव्यंजना होती है।····संगीत के स्वरों की भाँति प्रगीत के शब्द ही अपनी भावना-इकाइयों से कवि का निर्माण करते हैं। उनमें शब्द और अर्थ, लय और छन्द अथवा रूप और निरूप की अभिन्नता हो जाती है।..एक विशेष

प्रकार (या अवसर) की भावना या अनुभूति जिसमें कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह खो गया हो और साथ ही जिसमें किसी रूढ़ भावना या संस्कार का योग न हो प्रगीत का निर्माण करती है ।'' वाजपेयी जी ने उपर्युक्त नपे तुले शब्दों में गीतकाव्य की तात्विक और शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत कर दी । वैसे तो प्राय: सभी प्रमुख कवि और समीक्षकों ने गीत पर कुछ न कुछ लिखा है; परन्तु शायद प्रथमत: और स्वयं सर्वोत्तम गीत सृजनकर्त्री होने के नाते महादेवी जी और समीक्षकों में आधुनिक साहित्य में सर्वाधिक मौलिक दृष्टि रखने के कारण वाजपेयी जी के विचारों का महत्व निर्विवाद है । कवि बच्चन द्वारा की गई व्याख्या भी दृष्टव्य है क्योंकि छायावादोत्तर काल में 'गीत' में युगांतर करने वाले वे प्रमुख गीतकार हैं । बच्चन जी ने 'त्रिभंगिमा' के प्राक्कथन में लिखा है—

''गेय होने से ही कोई रचना गीत नहीं हो जाती । गीत वह है, जिसमें भाव, विचार, अनुभूति, कल्पना-एक शब्द में कथ्य की एकता-हो और उसका एक ही प्रभाव पड़े ।'' कहा जा सकता है कि महादेवी जी ने अपनी भावुकता से भरी व्याख्या में गीतों के प्राणों का परिचय दिया था तो आचार्य वाजपेयी जी ने अपनी सरस आतमा और शास्त्रीय विवेचना शक्ति के द्वारा उसके आकार प्रकार की व्याख्या की और भावुक कवियित्री और विद्वान मनीषी के बीच शिल्प और स्पन्दन का जो पक्ष छूट रहा था उसकी ओर बच्चन ने ध्यान आकर्षित करके गीत की व्याख्या को पूर्णता प्रदान की ।

हमने ऊपर ही कहा है कि आधुनिक गीतों का प्रारम्भ छायावाद के साथ ही साथ होता है और मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी और भगवतीचरण वर्मा के नाम उन प्रमुख गीतकारों के रूप में उल्लेखनीय हैं जिन्होंने विभिन्न दृष्टियों से गीत काव्य की प्राण प्रतिष्ठा की और पथ प्रशस्त किया । यहाँ हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि छायावादी युग के कवियों में प्रेरणा और विकास की एक निश्चित दिशा ही दिखाई देती है और गीतों के लिए गीतकार की जिस अनन्य

वैयक्तिकता की आवश्यकता अपेक्षित है उसका पूर्ण विकास उस युग में भी नहीं हुआ था। उस युग के कवियों में प्रसाद जी के पश्चात 'नवीन' जी ही एक ऐसे कवि कहे जा सकते हैं जिनके गीतों में भावी गीत की रूपरेखा बनती दिखाई देती है। यूँ तो तत्कालीन सभी कवियों में विभिन्न दृष्टियों और प्रयोग के विशेष प्रयत्न भी देखने को मिलते हैं परन्तु उनमें बौद्धिकता की वह दृष्टि भी परिलक्षित होती है जो गीतों को महत्तम बनाने में जब तब या प्रायः बाधक बन जाया करती है। रहस्यात्मकता, सामाजिकता, दार्शनिकता और राष्ट्रीयता की छाया में उपर्युक्त गीतकारों के सभी गीतों में न तो वह कोमल अनुभूति मिलती है जो गीत के लिये अपेक्षित है और न अभिव्यक्ति की वह सादगी ही जो किसी गीन को लोक कंठों में प्रतिष्ठित कर दे।

यह ठीक है कि उपर्युक्त कवियों में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अपनी आदर्श समाज दृष्टि, माखन लाल चतुर्वेदी और बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' अपनी बलिदानी भावना और राष्ट्रीय दृष्टि, प्रसाद, पंत और महादेवी वर्मा अपनी भावकुलता और कोमल कान्त पदावली, निराला अपने छन्दात्मक प्रयोग और ओज तथा भगवती चरण वर्मा अपनी अलमस्ती के लिये उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। किन्तु गीतों के लिए जिन सहज और शाश्वत मानवीय भावनाओं का चित्रण अपेक्षित था उनका पूर्ण विकास छायावादोत्तर काल में अंचल, नरेंद्र शर्मा और बच्चन की त्रिमूर्ति तथा अन्य समकालीन कवियों में देखने को मिलता है। इसी काल के कवियों के गीतों में राजनैतिक नारेवाजी का प्रभुत्व भी बढ़ता दिखाई दिया। प्रगतिवादी आन्दोलन का मार्क्सवादी स्वर भी इसी काल में गूंजने लगा। भारतीय जनजागरण की छाया इस काल के गीतकारों में स्पष्टतः दिखाई देती है। परन्तु हृदय की जो गम्भीर प्रतिध्वनि और मानवीयता के धरातल पर वैयक्तिकता की सहज अभिव्यक्ति जितनी बच्चन जी के गीतों में दिखाई देती है उतनी उस काल के अन्य गीतकारों में नहीं।

बच्चन आधुनिक गीत काव्य का वह केन्द्र विन्दु हैं जहाँ 'गीत' ने

अपनी पूर्ण चेतना प्राप्त की। भाषा और भाव, शब्द और स्वर, छन्द और लय, अनुभूति और अभिव्यक्ति की अखंडता जिनमें सम्यक् रूप में अवतरित हुई। गीत में जिस यूनिटी (एकात्मकता,) की आत्यंतिक अपेक्षा होती है, वह बच्चन के गीतों में अपनी उत्कृष्टता को पहुँची। गीतों के यह सब तत्व छायावादी अथवा बच्चन के समवर्ती अन्य गीतकारों में बिलकुल नहीं थे सो नहीं, वरन् कमोवेश सभी में उपर्युक्त तत्व विद्यमान हैं। किन्तु सभी तत्वों का सम्यक प्रभाव प्रारम्भ से लेकर अब तक यदि किसी गीतकार में क्रमशः विकास और विस्तार पा सका, वह केवल बच्चन जी हैं। साथ ही बच्चन का प्रभाव औरों से अधिक पड़ा। परवर्ती कवियों को जाने अनजाने, चाहे अनचाहें बच्चन की गीतसृष्टि ने अत्यधिक प्रभावित किया, यह एक तथ्य है। राजनैतिकवाद और विवादी स्वरों को छोड़ कर पिछले पच्चीस वर्ष के गीत काव्य पर दृष्टि डालते ही यह पता चल सकता है, कि बच्चन का प्रभाव उनके बाद की पीढ़ी पर कितने वेग से पड़ा।

शंम्भूनाथ सिंह, रंग, नीरज, रमानाथ अवस्थी, रामावतार त्यागी, सुरेन्द्र तिवारी, उपेन्द्र जैसे अनेक अच्छे गीत लेखकों को बच्चन से प्रेरणा प्राप्त हुई। बच्चन के सशक्त गीतकार ने जो नई उद्भावनाएँ कीं, उनमें से अपनी-अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार परवर्ती गीतकारों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। बच्चन का स्वर और गीतशिल्प तो अपनाया ही गया, साथ ही विषय निरूपण में भी वे अनुकरण की वस्तु बने। आधुनिक गीतों में मांसलता की खुली अभिव्यक्ति बच्चन का ही साहसिक कदम था। बच्चन ही वैयक्तिक प्रेमानुभूति को सीधे ढंग से व्यक्त करने वाले प्रथमगीतकार हैं। जिन्होंने प्रेम और तज्जनित वासना को मानवीय सच्चाई और ईमानदारी के साथ वाणी दी और इस निरूपण में न जिन्होंने प्रकृति को आलंबन बनाया, न दर्शन की गहराई में उतारा और न रहस्य की गलियों में भटकाया। प्रेम की जैसी यथार्थ अनुभूति मानव मन को होती है, जिस तरह उसके हृदय में व्यथा उठती है, वैसा ही गीत में उतार देना बच्चन का गीत काव्य में युगा-

न्तरकारी कदम था। बच्चन जी की इस प्रकृति पर जब आदर्शवादी, आचारवादी और समाज का आकाशगामी चिन्तन करनेवालों ने हो हल्ला मचा कर उन्हें हाला बाला और प्याला का प्रचारक और पतनोन्मुखी काव्य का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा तो उसके उत्तर में जिन शब्दों में जैसे सशक्त उत्तर उन्होंने अपनी रचना के माध्यम से दिये, वह उनकी ऐतिहासिक भूमिका ही कही जायेगी:–

कौन कहता वासनामय हो रहा संसार मेरा।

× × ×

क्या किया मैंने नहीं जो कर चुका संसार अब तक
वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी।

× × ×

"मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता" जैसी उत्कृष्ट रचनाओं में बच्चन ने अपने ऊपर आरोप लगाने वालों को न केवल करारा उत्तर दिया; प्रत्युत अपने परवर्ती गीतकारों के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया।

बच्चन जी की हालावादी मादकता (मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश) ने यदि समाज को उत्तेजित किया था तो 'निशा-निमन्त्रण' 'एकांत-संगीत' 'मिलन-यामिनी' और 'प्रणय-पत्रिका' में मानव की शाश्वत भावना को वाणी भी प्रदान की। 'प्रणयपत्रिका' में बच्चन की विशेषता शिखर को छूने लगी है। 'त्रिभंगिमा' में भी कुछ गीत बहुत सुन्दर हैं, परन्तु 'एकान्त-संगीत' 'निशानिमन्त्रण' और 'प्रणय-पत्रिका' गीत-संग्रह बच्चन कीकाव्य यात्रा के सोपान ही नहीं; अपितु आधुनिक गीत काव्य में मील के पत्थर माने जाते हैं। 'एकांत संगीत' और 'निशानिमन्त्रण' के गीतों में यदि करुणा और वैयक्तिक व्यथा ने कला का श्रृंगार किया था तो प्रणय-पत्रिका में प्रेम की सूक्ष्म भावनाएँ, उनका विस्तृत बोध और उनके निःसंग चित्रण ने 'प्रणय-पत्रिका' को नये गीत काव्य की प्रतिनिधि रचना का स्थान दिला दिया है। प्रणय-पत्रिका के गीत जैसे बच्चन की प्रतिभा के अप्रतिम चिन्ह हैं और उसके पश्चात् स्वयं बच्चन ही पीछे लौटने लगे हैं।

भाषा का जो अति सहज और बोध गम्य स्वरूप बच्चन जी की रचनाओं में है, वह उनकी दूसरी ऐतिहासिक विशेषता है। इतने तन्मय, गम्भीर और गहन चित्रण के क्षणों में भी भाषा कितनी सजीव, सरल और शक्तिशाली रह सकती है। बच्चन जी के गीत इसके प्रमाण हैं। हिन्दी अपने सहज स्वभाव और शुद्ध स्वरूप में ही कितनी सरल और भावराशि को सम्हालने में कितनी सक्षम है, इसका उत्तर वच्चन जी के गीतों को सामने रखकर दिया जा सकता है। यूँ तो बच्चन अपनी गीत सृष्टि के चरम विकास के लिए अन्यतम हैं ही, परन्तु उनमें यदि यह विशेषता न होती तो भी वे केवल अपनी भाषा के लिए ही हिन्दी काव्य जगत में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के अधिकारी हैं। बच्चन जी के समवयस्क प्रतिभाशाली कवियों में श्री दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, जानकी बल्लभ शास्त्री, अंचल, आरसी प्रसादसिंह, हृदयेश, प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन के द्वारा काव्य की प्रतिष्ठा हुई, परन्तु नरेन्द्र शर्मा के अतिरिक्त अन्य लोगों ने गीत काव्य को अपनी संभाव्य विशिष्टताओं से वंचित ही रक्खा। कविवर दिनकर का नाम निश्चय ही उन व्यक्तियों में अग्रणी रक्खा जा सकता है, जिन्होंने हिन्दी काव्य क्षेत्र को न केवल प्रकाशित किया वरन् कविता कामिनी का बड़ी सजगता के साथ शृंगार किया है; किन्तु उनका कृतित्व उच्चतम गीतकार के बजाय महत्तम कवि के रूप में स्मरणीय है। प्राय: बच्चन और दिनकर को दो शिविरों का कवि कह करपु कारा जाता है। ये दोनों कवि दो शिविरों का नेतृत्व करते हैं या नहीं, यह बात अधिक महत्व की इसलिए नहीं है कि दोनों का कार्य क्षेत्र अलग है। बच्चन वैयक्तिकता का प्रतिनिधि कलाकार है और दिनकर सामाजिक भावनाओं का सजग शिल्पी। एक की करुणा आत्मगत होकर समाज से वैयक्तिक विन्दु पर एकाकार होती है और दूसरे की करुणा समूह गत बन कर सामाजिक शक्ति का उद्‌बोधन करती है।

दिनकर की कविता प्रकाश पर अबस्थित है और बच्चन की ताप पर केन्द्रित। प्रकाश का कार्य मार्ग आलोकित करना है और ताप का कार्य

पिघला देगा। दिनकर का काव्य प्रकाश मार्गदर्शी है और बच्चन का काव्य हृदय स्पर्शी। एक की संवेदना समाज की वाणी बन कर घोष बन जाती है। दूसरे की हृदय व्यथा नेत्र से अश्रु बन कर झरने लगती है। यदि तुलना में कहना ही पड़े तो हम कह सकते हैं कि नई काव्य धारा के यह दोनों आधार स्तंभ हैं, जिनके बीच से वर्तमान कविता अपनी मंजिल तय कर रही है। नये प्रयोगों के द्वारा जो नया नेतृत्व कविता के क्षेत्र में पनप रहा है, उसकी स्थायी मान्यताओं के लिए समय की अपेक्षा है। यूं उसकी आवश्यकता और शिल्पगत प्रयोगों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

बच्चन की भावनाओं के साथ सहानुभूति न रखने वाला भी उनके प्रति आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के इन मंतव्यों को अस्वीकार नहीं कर सकता, "हिन्दी काव्य में बच्चन के आगमन से एक नई काव्य शैली की प्रतिष्ठा होने लगी, जिसकी एक विशेषता यह थी कि उसकी भाषा अधिक व्यावहारिक, अधिक लोक प्रचलित और सुगम थी।" निःसंदेह बच्चन की रचनाओं में हिन्दी भाषा की स्वाभाविक गति को विकास मिला। जो न तो छायावादी कवियों में था, न प्रगति वादियों में और न ही प्रयोगवादियों की रचनाओं में ही दृष्टिगत होता है। हमने ऊपर भी कहा है कि लोक प्रचलित भाषा कविता की उच्चतम भाव भूमि को कैसे सहज रूप में वहन कर सकती है यह बच्चन में देखने को मिलता है। भाषा के सहज स्वरूप में निखार और उसके स्वाभाविक विकास का गुरुतर कार्य बच्चन जी ने किया। अनुभूति तथा गहराई पर विचार प्रकट करते हुए वाजपेयी जी का यह कथन कि—"अनुभूति के क्षेत्र में बच्चन की सी गहराई छायावादी कवियों में कम मिलेगी, यद्यपि बच्चन की यह गहराई अत्यधिक वैयक्तिक है... ...व्यक्तित्व का पर्यवसान यदि काव्य की कसौटी माना जाय तो 'निशा-निमंत्रण ही उनकी सर्व श्रेष्ठ रचना होगी।" वाजपेयी जी ने नवीनतम काव्य शैली के प्रतिनिधि कवि की अवतारणा के लिए जो आशा व्यक्त की है उसके अनुसार उसमें भी वह "पंत के प्रगतिवादी काव्य अथवा ककुरमुत्ता की हिन्दुस्तानी की अपेक्षा बच्चन के चित्रण और भाषा शैली से अधिक प्रेरणा ग्रहण करेगा।"

कुछ विद्वानों का यह कथन भ्रमात्मक है कि बच्चन उद्दाम वासनाओं के कवि हैं। कहना चाहिए कि बच्चन जीवन की आभ्यंतरिक भावनाओं के शिल्पी हैं। मानव की सूक्ष्म गति और उसकी एकांतिकता के कवि हैं। बच्चन की रचनाओं में यदि श्रृंगार और तथाकथित वासनात्मक गीत हैं तो प्रेम के सुन्दर और प्रकृति के सतरंगी चित्र भी हैं। संसार के प्रति विरक्ति और नितांत वैयक्तिक करुणा की घनीभूत निराशा को प्रश्रय मिला है तो जीवन के प्रति सहज रागबोध, मानव मात्र के प्रति अनन्य श्रद्धा और मानवता के प्रति पूर्ण निष्ठा का स्वर भी उनके गीतों में गूंज रहा है। यह सही है कि बच्चन के गीतों में आधार की व्यापकता वैयक्तिक परिधि में चित्रित हुई है और शायद यह एक श्रेष्ठ गीतकार होने के नाते उनके लिए आवश्यक भी था, क्योंकि गीतकार के लिए जो अनन्य तन्ययता और रागात्मक अनुभूति के कारण अभि-व्यक्ति में एकांतिकता अपेक्षित है, उसमें संपूर्ण समाज की वेदना की झलक तो मिल सकती हैं; परन्तु उसमें समाज की परिपाटी का निदर्शन प्राय: कठिन ही है। अच्छे गीतकार के लिए फिर वे चाहे पुराने युग के पद-सर्जक हों या नये युग के गीत लेखक, वैयक्तिकता अपरिहार्य गुण रहा है। वैयक्तिक करुणा, हृदय की संवेदना और आत्म-विश्लेषण की प्रकृति उनकी थाती रही है। फिर वह चाहे भक्त की भगवान के प्रति हो या प्रेमी की प्रेमिका के प्रति।

गीत काव्य के क्षेत्र में बच्चन की देन कितनी बड़ी है, यह देखने के लिए उन पर विस्तार से चर्चा की आवश्यकता है जो यहाँ सम्भव नहीं। भाषा, शैली, भाव निरूपण, छन्द योजना आदि को समझने के लिए उनकी प्रारम्भ से लेकर सभी रचनाएँ पढ़ी जानी चाहिए। किन्तु उनके गीतकार का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व 'निशा-निमन्त्रण' और 'प्रणय-पत्रिका' में हो जाता है। छोटे-छोटे गीत, अमिट भाव चित्रों से सज्जित, करुणा के स्वरों में भरे डूबे इन दोनों ही संग्रहों में मिल जायेंगे। गीतों में व्यक्त भावनाओं के रिपिटीशन से बचकर यदि बच्चन के गीतों की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ देखना चाहें तो भी इन दोनों संग्रहों में मिल सकतीं हैं। बच्चन की अल्हड़ता

'निशा-निमन्त्रण' में बहुत ही संयमित हो गई थी। जो वेग और अल्हड़ता के साथ दुनियाँ को ठोकर लगाने की शक्ति प्रारम्भ की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है वह इसमें नहीं रह गई थी। यह सम्भव भी नहीं था।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि गीतकार अपने गीतों से अनन्य होता है, इसके बिना 'गीत' गीत नहीं बनता। बच्चन की प्रथम पत्नी श्यामा जी का निधन हो गया, और उस शोकाकुल अन्तर से 'एकान्त-संगीत' तथा 'निशा-निमन्त्रण' की रचना हुई थी। अत: इन गीतों में जवानी के ज्वार के बजाय उसकी लहरों का कम्पन युक्त संयम दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। मानव मन की करुणा कितनी दारुण होती है और भावनाएँ कितनी गहरीं और मर्मस्पर्शी होतीं हैं इसका परिचय हमें उक्त दोनों गीत संग्रहों में मिल जाता है। इसी माहौल में बच्चन की अभिव्यक्ति ने वह प्रौढ़ता और दृष्टि में गहराई प्राप्त करली जिससे अतिवैयक्तिक भूमि पर रचे गये गीत भी जन-जन की पीड़ा से तदाकार होकर उसकी थाती बन सके। बच्चन की वैयक्तिकता कैसे सार्वभौमिक बन जाती है, इन पंक्तियों में दृष्टव्य है:—

तू अपने दुख में चिल्लाता
आँखों देखी बात बताता
तेरे दुख से कहीं कठिन दुख यह जग मौन सहा करता है
मुझसे चाँद कहा करता है।

अथवा—

है पावस की रात अँधेरी
है सहसा जिह्वा पर आई
घन घमंड वाली चौपाई
जहाँ देव भी काँप उठे थे क्यों लज्जित मानवता मेरी।

विषाद के कुहासे में जीवन के प्रति विरक्ति का जगना स्वाभाविक है, परन्तु बच्चन पलायनवादी नहीं हैं। यदि उन्हें दुनिया से शिकायत है—

आज मुझसे दूर दुनिया ।
वह समझ मुझको न पाती
और मेरा दिल जलाती
है चिता की राख कर में माँगती सिन्दूर दुनिया ।

तो वे इस सत्य को भी भलीभाँति जानते हैं—

मुझमें है देवत्व जहाँ पर
झुक जाएगा लोक वहाँ पर
पर न मिलेंगे मेरी दुर्बलता को अब दुलराने वाले ।
बीते दिन कब आने वाले ।

'निशा-निमन्त्रण' की अनन्य वैयक्तिकता में बच्चन प्रकृति सौन्दर्य और जीवन के यथार्थ को पूरी तरह से भूल गये हों, ऐसा नहीं है और यही कलाकार को साधारण जन से कुछ अलग, कुछ ऊपर, उठा देती है ।

'आओ नूतन वर्ष मनालें, आओ सदा दुखी रहने का जीवन में आदर्श बनालें' जैसी भावनाओं के अतिरिक्त रात्रिकालीन चित्रण और मानव मन की तत्सम्बन्धी भावधाराओं का जैसा सजीव वर्णन इन गीतों में हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है ।

'आज मुझसे बोल बादल, चल बसी संध्या गगन से, संध्या सिन्दूर लुटाती है, दिन जल्दी जल्दी ढलता है' जैसे गीतों में यदि प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं 'तो देख रात है कितनी काली, साथी घर घर आज दिवाली', 'साथी सो न कर कछु बात', मैं कल रात नहीं रोया था', इत्यादि गीतों में सम्पूर्ण मानव इकाई अपनी वेदना को प्रतिध्वनित होते देखती है । सीधी और सधी हुई बात कहने की युगांतरकारी गीत शैली को बच्चन ने जैसे इन रचनाओं में समो दिया है । स्पष्टता के अतिरिक्त बच्चन की दुनिया के प्रति उपेक्षा दृष्टि ने इन रचनाओं में प्रौढ़ नम्रता का आधार ग्रहण किया:—

हम कब अपनी बात छिपाते ?
हम अपना जीवन अंकित कर
फेंक चुके हैं राज मार्ग पर
जिसके जी में आये पढ़ ले थमकर पलभर आते जाते ।

× × ×

मानवता के विस्तृत उर हम
मानवता के स्वच्छ मुकुर हम
मानव क्यों अपनी मानवता बिंबित हममें देख लजाते ?

साथी कवि नयनों का पानी, जग बदलेगा किन्तु न जीवन, मैंने भी जीवन देखा है, 'निर्ममता भी है जीवन में' इत्यादि गीतों में मनुष्य के अनुरागी मन की विभिन्न छबियाँ अंकित हुई हैं। जीवन दर्शन की व्याख्या भी कहीं कहीं बड़े ही मार्मिक ढंग से हो गई है। अनेक तत्व पूर्ण प्रश्नों को बच्चन ने कई गीतों में उठाया है। रोटी ही मानव की एक मात्र समस्या है, उसका हल ही मानव समस्याओं का समाधान मानने वालों के लिए बच्चन की यह चुनौती कितनी सशक्त है—

क्या न करेंगे उर में क्रन्दन
जन्म मरण के प्रश्न चिरन्तन
हल कर लेंगे जब रोटी का मसला जगती के नेतागण ?
प्रणय स्वप्न की चंचलता पर
जो रोयेंगे सिर धुन धुन कर
नेताओं के तर्क वचन क्या उनको दे देंगे आश्वासन ?
जग बदलेगा किन्तु न जीवन ।

निश्चय ही बच्चन के गीतों में मानव के अन्तरतम का उद्‌घाटन हुआ है। उनके सोचने विचारने का ढंग बौद्धिक कम, हार्दिक अधिक है। अतः विवशता का तार्किक समाधान प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य नहीं बनता, प्रत्युत एक नियतिवादी के समान वे कह उठते हैं—

साथी सब कुछ सहना होगा
मानव पर जगती का शासन
जगती पर संसृति का बन्धन
संसृति को भी और किसी के प्रतिबन्धों में रहना होगा।
हम क्या हैं जगती के सर में
जगती क्या संसृति सागर में
एक प्रबल धारा में हमको लघु तिनके सा बहना होगा
आओ अपनी लघुता जाने
अपनी निर्बलता पहचाने
जैसे जग रहता आया है उसी तरह से रहना होगा।

परन्तु उनकी विवशता में कापुरुषता नहीं है। वैयक्तिक क्लीवता को कहीं भी स्थान नहीं है। भले ही पौरुष की हुंकार न हो, परन्तु इकाई की दुर्बलता समूह की सबलता का माध्यम बने, यह बलिदानी भावना बच्चन से छूट नहीं सकी है। इसी आधार को लेकर वे लिख सके—

जय हो हे संसार तुम्हारी।
जहाँ झुकें हम वहाँ तनो तुम
जहाँ मिटें हम वहाँ बनो तुम
तुम जीतो उस ठौर जहाँ पर हमने बाजी हारी।
मानव का सच हो सपना सब
हमें चाहिए और न कुछ अब
याद रहे हमको बस इतना मानव जाति हमारी।

अथवा—

जाओ जग में भुज फैलाए
जिसमें सारा विश्व समाए
साथी बनो जगत में जाकर मुझ से अगणित दुखिया जन के।
जाओ कल्पित साथी मन के।

'विश्व को उपहार मेरा' गीत में भी बच्चन की इसी आत्मदानी भावना का विस्तार हुआ है। निशा-निमंत्रण में बच्चन ने नई दिशा ग्रहण की थी। इन्होंने इसके सातवें संस्करण में अपने वक्तव्य में लिखा भी है—

"जो मेरी मधुशाला और मधुवाला से परिचित होकर निशानिमंत्रण के गीतों को पढ़ेंगे, वे सहज ही देखेंगे कि मेरी शब्द योजना, मेरे छन्द, मेरे रूपक-एक शब्द में मेरी शैली में कितना परिवर्तन आ गया है। अंग्रेजी में एक कहावत है—स्टाइल इज़ द मैन—जैसा जो आदमी वैसी उसकी शैली। मेरा जीवन बदल गया था। मेरी शैली बदल गई। शुरू-शुरू में कुछ भोले लोगों ने पूछा था, अब आप पहले जैसे गीत क्यों नहीं लिखते ? मेरा उत्तर था, अब मैं पहले जैसा आदमी नहीं रहा।"

निशा निमंत्रण में बच्चन ने गीत काव्य में न केवल भाषा और शिल्प की वरन् भाव गत भी क्रान्ति की। प्रणय पत्रिका को छोड़कर बच्चन का अन्य कोई गीत संग्रह ऐसा नहीं है जो अपनी पूर्णता को लेकर इतना सशक्त और प्रभाव पूर्ण बन सका हो जितना 'निशा निमंत्रण'। परिस्थितियाँ बदलीं। बच्चन का जीवन बदला और साथ ही बच्चन के जीवन में पुनः आनन्द और उल्लास ने स्थान प्राप्त कर लिया। ये तत्व 'मिलनयामिनी' में मुखरित होने लगे। मिलनयामिनी शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण संग्रह है। भावनाओं की दृष्टि से भी बच्चन जी इस संग्रह को कुछ नवीनता दे सके। इसके विपरीत जो गहराई निशानिमंत्रण में थी 'मिलनयामिनी' में न्यून हो गई। मधुशाला, मधुवाला और मधुकलश की चंचलता को इसमें भी स्थान मिला। उद्दाम भावनाओं का चित्रण प्रौढ़ता से मिलकर उछाल लेने लगा—

है रूपहली रात हैं सपने सुनहले।
गोद में तुम हो गगन में चाँदनी है
काल को यह भी निशा तो नापनी है
मधु सुधा की धार में दो याम बहले।
कह रहा है यह कि मैं आदर्श भूला,
कह रहा वह विश्व का संघर्ष भूला

आज जो चाहे मुझे संसार कह ले।

× × ×

कुछ अँधेरा कुछ उजेला क्या समा है
कुछ करो इस चाँदनी में सब क्षमा है।

और—

शोर दुनियाँ में हुआ है बन्द किस दिन
हो सका इंसान है निर्द्वन्द किस दिन
तुभ हृदय की बात कानों को सुनाओ
आज संगिनि प्रीति के तुम गीतगाओ।

प्रकृति के सद्य: नूतन छवियों के साथ बच्चन की शृंगार भावना इस संग्रह के कई गीतों में स्पष्ट है। 'मिलनयामिनी' के गीतों में टेकनीक की दृष्टि से बच्चन ने नये मानदंड स्थापित किये। पूर्व भाग में यदि आशा और अनुराग से दीप्त—'स्वप्न में तुम हो तुम्ही हो जागरण' में 'प्रात मुकुलित फूल सा है प्यार मेरा' 'आज रिमझिम मेघ रिमझिम हैं नयन भी'। जैसे उत्कृष्ट प्रेमगीत हैं सो मध्य भाग और उत्तर भाग में नये छन्द, नई भावना,न ये प्रतीक और नई उपमाएँ देखने को मिलेंगी—

सहसा विरवों में पात लगे
सहसा विरही की आग जगी।
कुछ अनजाने दुख से सिहरीं
सब सूखी सूखी शाखाएँ
उन पर ऐसी लाली दौड़ी
जैसे गालों पर शरमाए
उस बाला के जिसका कोई
मुख चुम्बन पहली बार करे।
यह देख समा मेरी सहमी
आखों में आँसू भर आए
क्या था उस मादक लाली में
क्या उस मोहक हरियाली में

जिससे छाती में तीर चुभें
जिससे अन्तर में चाह जगी ।

मिलन-यामिनी में बच्चन का छन्द विधान स्वरात्मक न होकर लयात्मक प्रधान हो गया है। किन्तु प्रवाह और ओज इन गीतों में समा गये हैं। स्वतः फुदकते हुए शब्द रूप दृष्टव्य है--

चाँदनी रात के आँगन में
कुछ छिटके छिटके से बादल
कुछ भटका भटका सा मन भी ।

अथवा--

मैं जहाँ खड़ा था कल उस थल पर आज नहीं
कल इसी जगह फिर पाना मुझको मुश्किल है
ले माप दंड जिसको परिवर्तित कर देतीं
केवल छूकर ही देश काल की सीमाएँ
जग दे मुझ पर फैसला उसे जैसा भाए
लेकिन मैं तो बेरोक सफर में जीवन के
इस एक और पहलू से होकर निकल चला ।'

'मिलनयामिनी' में बच्चन की बौद्धिकता ने विस्तार पाया है और शिल्प ने गद्यात्मकता की ओर कदम बढ़ाए हैं। उत्तर भाग में नये छन्द प्रयोग के साथ कवि की ओजस्विता और मस्तिष्क की चिंतना को वाणी मिली है। मानव के प्रति अनन्य निष्ठा व्यक्त करते हुए--

कि वह कभी न स्वर्ग में समा सका
कि वह न पाँव नर्क में जमा सका

कि वह न भूमि से हृदय रमा सका
यह मनुष्य—
का अमर—
चरित्र है।

अथवा—

विराग मग्न हो कि राग रत रहे
विलीन कल्पना कि सत्य में दहे
धुरीण पुण्य का कि पाप में बहे
मुझे मनुष्य सब जगह समान है।

'मिलनयामिनी' में बच्चन की हृदय और मस्तिष्क की एकतानता तो नहीं है। परन्तु उनमें सामूहिकता का अरुणोदय अवश्य मिलता है। एक विशिष्ट जीवन दर्शन जो मानव इकाई से विस्तृत होकर सामाजिक दायित्व का स्थान ग्रहण करता है बच्चन में प्रवेश करने लगी थी। खादी के फूल और सूत की माला में उस जीवन दर्शन को सुकरता मिली। व्यक्त होने का क्षेत्र मिला। किन्तु बच्चन जिस गीत विधा के अन्यतम कलाकार हैं और जिस विशिष्ट पद्धति और विचार धारा का उन्होंने अपने गीतों में प्रतिनिधित्व किया है उसकी चरम परणति प्रणय पत्रिका में हुई। हम कह सकते हैं कि पराधीन देश के घुटन की प्रतिध्वनि यदि वैयक्तिक धरातल पर निशा-निमंत्रण में हुई थी तो स्वाधीन देश की पुलकन भरी वाणी 'प्रणय पत्रिका' में मुखरित हुई है। निशा-निमंत्रण पर कुछविस्तार से हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। अब हम उनका दूसरा सर्वोत्तम गीत संग्रह 'प्रणय पत्रिका' पर विचार करेंगे।

प्रणय पत्रिका के गीतों में बच्चन की कला अपनी पूर्णता को पहुँची है। प्रत्येक गीत अपने में इतना पूर्ण, सशक्त तथा महतम बन गया है कि हिन्दी गीत, गर्व के साथ किसी भी अन्य भाषा-भाषी को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। बच्चनके अन्य गीत संग्रहों में बहु विधीयता की न्यूनता रही है, किन्तु

पत्रिका के गीत भाषा, भाव-छन्द विधान तथा गेय तत्व की दृष्टि से ही नहीं, विषय निरुपण की दृष्टि से भी उत्तम बन गये हैं। गीत की उत्कृष्टता के लिए जिस लिरिकल यूनिटी की आवश्यकता अपेक्षित है, उसका सहज निर्वाह इस संग्रह के गीतों में देखने को मिलता है। गीतात्मक मूल्य (लिरिकल वैल्यूज) के संदर्भ में प्रणय पत्रिका नेए क विशिष्ट मानस्तर प्रस्तुत किया है। इसमें संन्देह नहीं एकान्त सगीत, निशा निमन्त्रण तथा मिलन यामिनी के अधिकाँश गीतों में जितनी एकांतिकता रही थी वह 'प्रणयप्रत्रिका' में जन-मन से तदाकार हो गयी। बच्चन की अनुभूनि में तीव्रता तो शुरू से थी, इन गीतों में वह गहरी भी हो गई। भाषा का सारल्य पूर्ववत होते हुए स्वाभाविक गम्भीरता की प्रचुरता है। जीवन के देखने का कोण व्यापक और चिन्तन की स्थिति शाश्वत भावनाओं को पकड़ने बाली बन गई है। प्रारम्भ की रचनाओं में जहाँ-तहाँ बासना, आवेग, फक्कड़पन, आवेश और कहीं-कहीं विवशता की प्रतिध्वनि थी, तो इन गीतों में विश्वास, आस्था, दृढ़ता और सौंन्दर्य कीं चिन्तन दृष्टि के साथ विवेक की निर्मलता और हृदय की भावुकता आदर्शरूप में प्रतिष्ठित हुई हैं। कठोर यथार्थ की अभिव्यक्ति जैसे सधे स्वरों में इन गीतों में दिखाई देती है, वैसी अन्यत्र प्रायः कम ही मिलेगी। 'भाबाकुलता की कौन कहे मजबूरी' शीर्षक गीत में:-

क्षण भंगुर होता है जग में
यह रागों का नाता।
सुखी वही है जो बीती को
चलता है बिसराता।
और दुःखी है पूर्ति ढूंढ़ता
जो अपनी साधों की
रह जाती है जो उसके बीच अधूरी।
अथवा:-
चली सरल शुचि सीधे पथ पर
किसकी राम कहानी

कुछ अवगुन कर ही जाती है
चढ़ती बार जवानी ।
यहाँ दूध का धोया कोई हो तो आगे आए ।
मेरी आंखों में फिर भी खारा पानी
विसरा दो माना मेरी थी नादानी ।

इत्यादि गीतों में भली भांति देखा जा सकता है । बच्चन की अनुभूति की गहराई और मन:स्तर पर उठने वाले आवेग संवेग कैसे तटस्थ-भाव से वाणी के पास हैं इन पंक्तियों में दृष्टव्य है:—

एक लहर उठ–उठ कर गिरती
ललक–ललक तट तक जाती है
उदासीन जो सदा सदा से
भाव भरी तट की छाती है
भाव भरी यह चाहे, तट भी–
कभी बढे, तो अनुचित क्या है?
मेरी तो हर साँस मुखर है प्रिय तेरे सब मौन संदेशे ।
बन्द कपाटों पर जाकर जो
बार बार साँकल खटकाये,
और न उत्तर पाये, उसकी
ग्लानि लाज को कौन बताये
पर अपमान पिये पग फिर भी
उस ड्यौढ़ी पर जाकर ठहरें ।

क्या तुझमें ऐसा जो तुझसे मेरे तन मन प्राण बँधे से,
मेरी तो हर साँस मुखर है प्रिय तेरे सब मौन संदेसे ।

बच्चन जी अपनी सभी विशेषताओं को लेकर कुछ ऐसे गीतों में भी व्यक्त हुए हैं जिन्हें सर्वोत्तम व्यंग्य के रूप में देखा जा सकता है । नीचे उद्धृत गीत में बच्चन की विशेषताओं के साथ उपमाओं की नवीनता भी आकर्षक है:—

"प्रेमी की छाती-सा फैला
क्षितिज-क्षितिज तक नीला अंबर
नीर भरा मँडराता बादल
पीर भरा ज्यों कवि का अन्तर"

× × ×

"देवदारु के दम्भी खम्भे
महाकाव्य के सर्ग सरीखे
रच देंगे हम बीच उन्हीं के
गीतों का अभिसार सहेली
चढ़ चल, मेरे साथ करें हम
इस पर्वत पर प्यार सहेली"

इसी गीत में उनके व्यंग-शक्ति भी देखिये—

"वे दयनीय बड़े हैं जिनकी
दर दीवारें लाज बचातीं
जिनकी जिभ्या उनके मन को
मुखरित करती भी शरमाती
और सहमती जिनकी आंखें
अपने ही को देख मुकुर में
हम निर्भय अभिमानी हमको
देखे सब संसार सहेली"

'प्रणय-पत्रिका' के कुछ गीत जिनमें प्रेम की शाश्वत भावनाओं का सजीव चित्रण हुआ है, रूप और निरूप्य की दृष्टि से अन्यतम कहे जा सकते हैं—

"सुर न मधुर हो पाये
उर की वीणा को कुछ और कसो ना"
"राग उतर फिर-फिर जाता है
वीन चढ़ी ही रह जाती है"

"सो न सकूंगा और न तुमको सोने दूंगा
हे मन वीने"
"अर्पित तुमको मेरी आशा और निराशा और पिपासा"
"पुष्प गुच्छ माला दी सब ने
तुमने अपने अश्रु छिपाये"
"नयन तुम्हारे चरण कमल में
अर्घ्य चढ़ा फिर-फिर भर आते"
"क्या आज तुम्हारे आँगन में भी धन छाये"
"मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे कौन हरेगा"

इत्यादि गीत इस कसौटी पर रक्खे जा सकते हैं।

इन गीतों में हमें बच्चन का ढोंगी दुनियाँ के प्रति उपेक्षा भाव अथवा उनके अहम् की भावना उभरी हुई न दिखायी देती हो, सो बात नहीं है। हाँ, पूर्व के गीतों की भाँति कठोर न होकर वह कुछ अधिक भावनामय एवं कला-पूर्ण होकर मुखरित हुई है। यथा—

जगती की जय जयकारों की किस दिन मुझको चाह रही है।
दुनिया के हँसने की मुझ को रत्तीभर परवाह नहीं है॥

अथवा:—

"वे अपना ही रूप बिसारे
जो हैं हम पर हँसने वाले
मैं उनको पहचान रहा हूँ
एक नगर के बसने वाले
हम प्रतिध्वनि बन कर निकलेंगे
कभी इन्हीं के वक्षस्थल से
मैं जीवन की गति-रति अथकित
अविजित कीर्ति कलंक मुझे क्या ?

आज गीत मैं अंक लगाये
भू मुझको पर्यंक मुझे क्या
कवि के उर के अन्त:पुर में
वृद्ध अतीत बसा करता है
कवि के दृग-कोरों के नीचे
वाल भविष्य हँसा करता है
वर्तमान के प्रौढ़ स्वरों में
होता कवि का गान निनादित
तीन काल पद-मापित मेरे
क्रूर समयका डंक मुझे क्या ?"

जैसे गीत तो हैं ही; कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनको वासना पक्ष से रहित नहीं कहा जा सकता। जैसे—

"पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना"
"रात आधी खींचकर मेरी हथेली
एक अंगुली से लिखा था प्यार तुमने"
"नींद प्यारी थी तुम्हें
तब क्योंकि तुमने प्यार का सर शूल था समझा न जाना"

बच्चन मानवता के सम्पूर्ण पक्ष को ही अपना आदर्श मानते हैं। उस के महत्तम और निम्नतम जैसे स्थूल पक्षों के विभाजन पर उनका विश्वास नहीं है। अपने इस दृष्टिकोण को बड़े ही कलापूर्ण ढंग से उन्होंने व्यक्त किया है:—

"कहाँ सबल तुम कहाँ निबल मैं
प्यारे ! मैं दोनों का ज्ञाता

तप संयम साधन करने का मुझको कम अभ्यास नहीं है,
पर इनकी सर्वत्र सफलता पर मुझको विश्वास नहीं है
धन्य पराजय मेरी जिसने बचा लिया दम्भी होने से
जो न कहीं भी हारा ऐसा लेकर मैं पाषाण करूँ क्या
हो भगवान अगर तो पूजूँ, पर लेकर इन्सान करूँ क्या
स्वर्ग बड़े जीवटवालों का, ऐसों को तो नरक न मिलता
दया द्रवित हो इनके ऊपर यदि न इन्हें कोई ठुकराता"

कुछ गीत बलिदानी भावनाओं के प्रतीकों को अपना कर लिखे गये हैं। जैसे--

"मैं दीपक हूँ, मेरा जलना ही तो मेरा मुसकाना है"
"मेरे अंतर की ज्वाला तुम घर-घर दीपशिखा बन जाओ"
"हे मन के अंगार! अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे"

इत्यादि गीतों में बच्चन का अहम् जैसे मानवता के प्रति समर्पित हो गया है। मानव के प्रति अपने को उत्सर्ग करने की भावना ऐसे कई गीतों में प्रकट हुई है। ईश्वर की सत्ता मानव के जीवन पर क्या प्रभाव डालती है। सृष्टि के प्रत्यक्ष सुख-दु:ख और पाप-पुण्य भरे कार्य कलाप सृष्टा के ही सृजन क्षण हैं। उनकी अनन्यता में तदाकार भक्ति की वाणी ही तो इन पंक्तियों में है। इनमें यदि मानव का दौर्बल्य है तो भक्त की निष्ठा भी—

"मेरी दुर्बलता के पल को
याद तुम्ही करुणा कर आते
अपनी करुणा के क्षण में तुम
मेरी दुर्बलता बिसराते
बुद्धि बेचारी गुमसुम हारी
साफ बोलता पर चित मेरा

मेरे पाप तुम्हारी करुणा
में कोई सम्बन्ध कहीं है
तुमको छोड़ कहीं जाने को
आज हृदय स्वच्छंद नहीं है।''

एक प्रकार से 'प्रणयपत्रिका' के गीत बच्चन की पूर्व भावनाओं की श्रेष्ठ कोमल और परिष्कृत वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। मैंने जैसा ऊपर कहा है कि बच्चन की प्रणय-पत्रिका के पूर्व गीतों में जो वैयक्तिक एकान्तिकता थी उसका बहुत कुछ निराकरण 'प्रणयपत्रिका' में आकर हो गया है। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि बच्चन का हृदय हिन्दी-गीत-काव्य को बहुत बड़ा योगदान करके इसके बाद से पीछे हटने लगा। उनकी रचनाओं में अब बौद्धिकता को अधिक प्रश्रय मिलने लगा है; यद्यपि गीतकार बच्चन में बौद्धिकता का वह स्वरूप प्राय: नहीं मिलता जो रचना को शुष्क बना देती है। यों, हृदय की कोमल अनुभूतियों के लिए बच्चन की 'मधुशाला' से लेकर 'प्रणयपत्रिका' तक की मंजिल पर्याप्त है। इसके पश्चात् उनका रुझान दूसरी तरफ भी हुआ है। अब वे ब्लैंक बर्स के रूप में उसे और भी आगे बढ़ा रहे है। लोक धुनों के आधार पर इधर उन्होंने जो रचनाएँ की हैं, उनमें भी उनका बौद्धिक प्रयास ही अधिक है। उनमें न तो बच्चन का स्वाभाविक स्वर-विलास है और न हृदय-स्पर्शी भाव राशि ही। 'त्रिभंगिमा' में उनकी नई दृष्टि का परिचय मिलता है। इसमें लोक धुनों पर आधारित गीत, ब्लैंक बर्स में लिखित रचनाएँ तो हैं ही, साथ ही कुछ गीत बच्चन की पूर्व परम्परा से सम्बन्धित भी हैं। बच्चन का कलाकार बौद्धिक तो हो ही गया है, साथ ही उसमें आध्यात्मिकता की पुट भी आ गयी है। उसमें कहीं भक्ति की पुकार होती है, तो कभी ज्ञानी संत की दार्शनिकता भी—

''बाबा अब तो मेरी बीती
बूंद-बूंद से भरी गगरिया
बूंद-बूंद से रीती

साथ ही उनकी भावना सामाजिक और राष्ट्रोन्मुखी भी हो गयी है। उद्बोधक के रूप में उनका यह गीत बहुत ही अच्छा है—

"देश में बलि की प्रथा रहे
अंधकार मत छाने पाये
रवि शशि तारक दल छिप जाये
तेल चुके बाती जल जाये तो धन धाम दहे।
देश में बलि की प्रथा रहे।
जो कलंक धुल सके न जल से
आँसू से श्रम सीकर बल से
उसे छुड़ाने को शहीद का अविरल रक्त बहे।
उसे कहीं से खोला जाये
यह इतिहास न कहने पाये
शीश झुका कर हमने जीवन में अन्याय सहे।
देश में बलि की प्रथा रहे"

बच्चन की प्रौढ़तामें निरंतर बृद्धि होती जा रही है, जो स्वाभाविक है। उनमें यदि विवेक का शैथिल्य भी मिले तो वह अनुचित नहीं है, फिर भी तेजोदीप्त कवि से समाज सदैव चिर नूतन बने रहने की मांग करता है और इस माँग की पूर्ति करते रहना विरले कलाकार का ही काम है। प्रगतिवाद-प्रयोगवाद के विषमवादी घोष कभी भी उन्हें उनके कलात्मक मार्ग से हिला नहीं सके; परन्तु अब जैसे वे युग के समक्ष झुकते जा रहे हैं। इधर की उनकी कविताओं में बौद्धिकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा है; परन्तु हिन्दी-गीतकाव्य को जितनी ऊँचाई और उपलब्धियों तक उन्होंने पहुँचाया है, वह स्वयं में महत्वपूर्ण है। निश्चय ही बच्चन हिन्दी-गीतक्षेत्र के युगांतरकारी कवि हैं और उनके योगदान का आधुनिक गीत काव्य में ऐतिहासिक स्थान है।

बच्चन के परवर्ती गीतकारों पर दृष्टि डालने के पूर्व यह भी देख लेना उचित होगा, कि उनके कुछ समवर्ती गीतकार ऐसे भी हैं, जिनका प्रभाव और कृतित्व कम नहीं है और कुछ निश्चित विशेषताओं के कारण उन्हें बच्चन के समकक्ष रखा जाना चाहिए। श्रीमती महादेवी वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और अंचल के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें महादेवी जी गीत क्षेत्र के लिए स्वयं ही उपलब्धि हैं और उनका कृतित्व अपने में इतना पूर्ण तथा अद्वितीय है, जिसकी चर्चा स्वतंत्र रूप से ही की जा सकती है। शेष दोनों कवि नरेन्द्र शर्मा तथा अंचल जी, बच्चन के समानांतर स्थान रखते हैं। यद्यपि नरेन्द्र शर्मा बच्चन जी के परवर्ती कवियों में ही स्थान रखते हैं; परन्तु उनका कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के कारण विशेष चर्चा की अपेक्षा रखता है, जो यहाँ संभव नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि गीत को महत् बनाने में नरेन्द्र शर्मा का स्थान कम नहीं है और परवर्ती गीतकारों को बच्चन के अतिरिक्त नरेन्द्र शर्मा ने भी कम प्रभावित नहीं किया। परन्तु नरेन्द्र जी अथवा अंचल में अलग-अलग विशेषताओं तथा प्रभावों को ग्रहण करने के बावजूद भी हिन्दी-गीत काव्य को पूरी तरह से मोड़ देने की शक्ति का अभाव रहा।

छायावादी शिल्प विधान, अमूर्तता और अभिव्यक्ति की सांकेतिकता में नवोन्मेष की झलक तो इन दोनों में दिखाई दी, परन्तु उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा में जैसा योग बच्चन का रहा वैसा इनका नहीं। यूं, नरेन्द्र शर्मा और अंचल के गीतों में नई उद्भावनाएँ देखी जा सकती हैं। नरेन्द्र जी के गीत अधिक कलापूर्ण और वैयक्तिक भावानुभूति से पूर्ण हैं, जब कि अंचल के गीतों में सामाजिक दुरवस्था के प्रति आक्रोश और उसे बदल डालने की आतुरता है। दोनों में संघर्ष की भावना कम नहीं है और सामाजिक चेतना के स्वर इन दोनों गीतकारों में बड़ी खूबी के साथ गूंजे हैं; किन्तु रोमांटिक भावनाओं में दोनों ही गीतकारों ने उत्तमोत्तम रचनाएँ की हैं। नरेन्द्र शर्मा के 'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे', 'चौमुख दिवला बार धरूँगी चौवारे पर आज' में छायावादी प्रभाव है तो 'शांत है पर्वत-समीरण मौन है यह चीड़ का बन भी' 'तुम्हें

याद है क्या उस दिन की' अथवा 'अब तो तुम्हें और भी मेरी याद न आती होगी' जैसे गीत नई शैली, नये दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं । नरेन्द्र शर्मा के कुछ गीतों में मानवीय स्तर पर सामाजिक भावनाओं का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है, उसने भावी गीतकारों को अपनी ओर आकर्षित किया । 'आकाश-पुरुष' 'स्वर मेरे' 'हंसमाला' इत्यादि गीत इस दिशा में उल्लेखनीय हैं ।

अंचल के प्रेम गीतों में 'तुम न आये बीतते जाते चले मधु के दिवस भी' 'भूलने में सुख मिले तो भूल जाना' 'जब नींद नहीं आती होगी' गीतों में वैयक्तिक वेदना के स्वर गूंजे हैं तो—

'ओ प्रकाश के पिंड ! कारवाँ अन्धकार का बढ़ता'

× × ×

मानवता की भूख पराजय जिसमें धू-धू जलती,
दलित वुभुक्षित की प्रतिहिंसा जिसके पीछे चलती ।

× × ×

देश से नूतन रुधिर की माँग की परिवर्त्तनों ने,
तब प्रभंजन वेग से ललकार की शोणित कणों ने ।

जैसे गीतों में अंचल का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व बोल उठा है । परन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है, कि इनमें गीतकाव्य को पूर्णत: मोड़ देने की क्षमता नहीं थी, और इसीलिए जब छायावाद अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर नये मार्ग की तलाश में था, उस आवश्यकता की पूर्ति बच्चन के माध्यम से हुई । पूर्व परम्परा के सौंदर्य की पूर्णत: रक्षा करते हुए, बच्चन ने गीत को नये आलोक से प्रकाशित किया । भाषा, छन्द, विषय सभी दृष्टियों से बच्चन ने गीत को नयी दिशा प्रदान की । अत: यह स्वाभाविक था कि यदि पुराणपंथी बच्चन पर बरस उठे, तो उतने ही वेग से परवर्ती गीतकारों ने उनसे प्रभाव ग्रहण किया तथा विचारकों ने उनकी सामर्थ्य और प्रतिभा को स्वीकार किया ।

पिछले तीन दशक भारतीय जन-जीवन के चिंतन और मनन की दृष्टि से ही नहीं, जीवनयापन की दृष्टि से भी बहुत महत्व पूर्ण रहे हैं। परिवर्तन की जैसी त्वरा इस कालावधि में दृष्टि गोचर हुई वैसी पिछली शताब्दियों में भी नहीं देखी गई। परिणामस्वरूप साहित्य के क्षेत्र को उन सारी परिस्थितियों ने प्रभावित किया और तत्कालीन काव्य का प्रमुख माध्यम गीत में यदि उसकी छाया उभरती दिखाई दे तो आश्चर्य ही क्या ?

आरसी प्रसाद सिंह, जानकी वल्लभ शास्त्री, डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' हंसकुमार तिवारी, गोपाल सिंह 'नैपाली', गिरजाकुमार माथुर, ठाकुर प्रसाद सिंह, बलवीर सिंह 'रंग' इत्यादि के नाम इन भावनाओं को वाणी देने वालों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी समय विद्यावती 'कोकिल' सुमित्रा कुमारी 'सिनहा' और चन्द्रमुखी 'सुधा' आदि कवयित्रियों ने गीत का बड़ी कोमलता के साथ शृंगार किया।

जानकी बल्लभ शास्त्री पर निराला जी के ओज और तेज के साथ छायावाद का व्यापक प्रभाव था।[१]

डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' के गीतों में प्रगतिवाद के स्वरों की गूंज मिलती है, साथ ही उनकी रागात्मक भावनाओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता से हुआ है।[२] इनके गीतों में दायित्व[३] का बोध भी है।

---

१ प्यास तुम्हारी कंठ-कंठ में, रूप तुम्हारा नयन-नयन में।
मेरी शिथिल मन्द गति ही क्यों,
गिरि-वन, सिन्धु-धार भी देखो।

२ जब जगती मुझको ठुकरा दे, तब तुम आकर अपना लेना।
इतना तो नेह निभा देना।"
'कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखे नहीं भरीं।'

३ पथ भूल न जाना पथिक कहीं।
जिस जिससे पथ पर स्नेह मिला, उस-उस राही को धन्यवाद।

आरसी प्रसाद सिंह के गीतों में प्रेम भावना[1] का चित्रण तो हुआ ही, चिन्तनपूर्ण तथा बलिदानी भावनाओं[2] की भी अभिव्यक्ति मिली।

हंसकुमार तिवारी के गीतों में इन्द्रधनुषी भाषा तथा ऊर्ध्वगामी चिन्तन का महत्वपूर्ण स्थान है[3]। इन पर बंगला की कयनीयता और रवीन्द्रनाथ की सांकेतिकता का विशेष प्रभाव पड़ा[4]। सामाजिक औदात्य और मानवीय करुणा

१- फिर घिर आये मेघ तुम्हारी याद लिये,
तड़प उठी फिर बिजली एक विषाद लिये।

२- पुष्प सोचता, लघुता की इच्छा, शीर्षक गीत

३- मेरे नयन नीर में घुलकर, निकला है मृदुहास तुम्हारा

बन वेदना बसे तुम मन में
मैं उसको ही प्यार कर रहा।
उसी वेदना को मैं जीवन,
मरण और संसार कर रहा।
दे निःसीम गगन, नन्हीं सांसों के पंख दिये दो तुमने—
विफल प्रयासी मैं सीमा में, नव-नव नित्य प्रकाश तुम्हारा।

४- तेरी बड़ी याद आती है।

कजरारे घन नयन पसारे
इन्द्रधनुष की भौंह संवारे
रुनझुन-रिमझिम की पगपायल
पी-पी प्राण पपीहा टेरे

विद्युत विकल कटाक्ष शून्य सागर में जब लहरें भर लातीं।
तेरे नलिन विलोचन की तब मुक्ता-झड़ी याद आती है।

की प्रतिध्वनि के साथ मानवता के प्रति इनके हृदय में गहरी आस्था और ममता विद्यमान है [१]।

श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिनहा के गीतों में संगीत की आत्मा शब्दों तथा भावों से एकमिल होकर प्रभावपूर्ण बन गई है। ममता, विसर्जन, स्नेह और करुणा की अनुभूतियां उनके गीतों का संसार है [२]।

विद्यावती 'कोकिल' के गीतों में संगीत के साथ अन्तर्वेदना की गहरी अनुभूति तथा भावाकुलता का सामंजस्य हुआ है। उच्च धरातल पर अवस्थित प्रेम निरूपण इनके गीतों की प्रमुख विशेषता है [३]। 'कोकिल' जैसी तन्मयता और गहराई महादेवी जी को छोड़कर किसी कवयित्री में दिखाई नहीं देती।

---

१ अधरों का अरुणिम उदयाचल, उस पर सजल नयन कालिन्दी
जैसे उन्मीलित शतदल पर पारे-सी शबनम की बिन्दी
कोटि-कोटि किरणों के कर से उस आंसू को पोंछ थके तुम
मेरे गीत उसी हत करुणा का जीवित श्रृंगार।

२- मैं हर मन्दिर पर अपना अर्घ्य चढ़ाती हूँ
भगवान एक पर मेरा है।

× × ×

रहा पन्थ सूना न कोई धरा का
पगों की शिथिल गति न फिर डगमगाई।
तुम्हें दी विदाई।

३- उनको क्या वे दिवस सुहाने।
मधुर प्रतीक्षा-क्षण हो उनको
जिनके आँसू पर प्रिय आयें।
जिनकी स्मृति को गिरा मिली हो
वे अपने सुख-दुःख सुनायें
पर जिनकी वाचा हो गूंगी सुख जिनके हों अनपहिचाने
जिनके अन्तस हो पर्वत सम
जो न चाहने पर मिल पायें

गोपाल सिंह 'नैपाली' का उदय हिन्दीगीत क्षेत्र में बड़ी आशाओं के साथ हुआ था। प्रारंभ की रचनाओं से ऐसा लगा कि बच्चन की क्रान्तिकारी भूमि पर कोई अगला कदम उठ रहा है। नैपाली ने भाषा और छन्द के नये प्रयोगों के साथ सामाजिक दायित्व की भावना भी अपनायी थी। परन्तु नैपाली के रूप में गीत में जो नया स्वरूप निखरता दिखाई दे रहा था वह अपने विकास की मंजिल तक पहुंचते बिना ही झुलस गया। नैपाली की गीत-प्रतिभा जैसे फिल्मी क्षेत्र में पहुंचते ही मुरझा गई।

'कल्पना करो नवीन कल्पना करो',
उस पार कहीं बिजली चमकी होगी
जो झलक उठा है मेरा भी आंगन'
तन का दिया प्राण की बाती'
दीपक जलता रहा रात भर

जैसे थोड़ें से उत्कृष्ट गीत देकर ही नेपाली का गीतकार जैसे तिरोहित हो गया। फिल्म क्षेत्र से लौट कर नेपाली ने जो गीत रचे हैं उनमें शिल्प की नवीनता यत्र-तत्रअवश्य दिखाई देती है, किन्तु गीतों के लिए जिस गहराई की उनसे अपेक्षा की जा सकती है उसका अभाव ही है।

बलवीर सिंह 'रंग' का नाम गीतकारों की पंक्ति में अपनी कुछ विशेषताओं के लिए सदैव ही स्थान पाने का अधिकारी रहेगा। यद्यपि आलोचक वर्ग ने तथा संकलन-सम्पादकों ने उनकी उपेक्षा ही की है परन्तु राष्ट्रीय भावनाओं, सामाजिक चिन्तन और ग्राम्य चित्रों के साथ अत्यंत सरल और सीधी भाषा और अभिव्यक्ति के लिए 'रंग' का स्थान अक्षुण्ण है। प्रकृत कवि होने के नाते 'रंग' में आशा और संघर्षशील जीवन व्यतीत करते हुए उनमें जो दृढ़ता अनायास आ गई है, उसने उनके गीतों को प्राणवान बनाया है। 'रंग' प्रेमानुभूति के प्रतीक:—

उपल उदासी में मुस्कायें
जिन पर नित सम ऋतुएँ आयें
दो पर्वत यदि मिलें कभी तो कहाँ भेंट कर हृदय जुड़ाने
उनको क्या वे दिवस सुहाने

"जाने क्यों तुमसे यिलने की, आशा कम विश्वास बहुत है।"
"रच भी लोगे गीत करुण उच्छ्वास कहाँ से लाओगे।"

जैसे अनेक गीत रचे हैं, तो साथ ही साथ जन-जीवन के संदर्भ में चुनौती भरे गीतों की रचना भी की है। यथा—

अभी तो निर्माण की दिशा में,
सुधार है साधना नहीं है।
अभी गरीबी की जड़ जमीं क्यूँ ?
अभी भी मजबूर आदमी क्यूँ ?

राष्ट्रीय चेतना से पूर्णतः प्रभावित 'रंग' के गीतों ने सामाजिक भावनाओं तथा मानवचरित्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

शम्भूनाथ सिंह इस पीढ़ी के अग्रणी कवि हैं, जिनके गीतों में नई उद्भावनाओं ने आकार ग्रहण किया। प्रारम्भ में इन पर छायावाद का गहरा प्रभाव था, उसके बाद बच्चन की वैयक्तिकता और फिर प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। तत्पश्चात् इन्होंने अपना नया मार्ग ढूँढ लिया।

'मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई' पर पद परम्परा का और—
'मेरे पीछे-पीछे न चलो,
मेरे मन कोई हो भी तो।'

× × ×

'रोम तारों में बँधी पुलकन अमर हो'

अथवा :—

'समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये किसी ने मिटाये'

जैसे गीतों में छायावादी सांकेतिकता तथा शिल्प-विधान देखा जा सकता है। प्रगतिवादी आन्दोलन से आकृष्ट होकर इन्होंने 'जनधारा' 'गतिशील मानव' आदि गीत रचे। प्रयोगवाद का प्रचार बढ़ता देख इन्होंने प्रयोगवादी

कवियों की पंक्ति में मिलने के लिए आतुर होते हुए भी अपने गीतों में जो नये प्रयोग किए, आधुनिक गीतकाव्य के लिए वह उनका विशिष्ट योगदान है। लोकधुनों पर आधारित छन्दविधान, भाषा पर लोकवाणी का प्रभाव और प्राकृतिक दृश्यचित्रों का अंकन इनके गीतों की विशेषता है। इस दिशा में ठाकुर प्रसाद सिंह.[१] शिव बहादुर सिंह[२] राममनोहर त्रिपाठी[३] जैसे सशक्त कवियों के नाम ही इनके साथ रक्खे जा सकते हैं, जिनके द्वारा रचे गये गीतों में लोकदृष्टि और ग्राम्यचित्र अपनी पूरी शक्ति के साथ अंकित हुए हैं।

यद्यपि गिरजाकुमार माथुर नई कविता-आन्दोलन के अग्रणी कवियों में से हैं; तथापि इनकी प्रतिभा गीत के लिए अप्रतिम होती, यदि इन्होंने उस क्षेत्र को छोड़ न दिया होता। माथुर के गीतों में चित्रमयता, प्रांजल भाषा, रोमांटिक सौंदर्य बोध, संगीत की अनन्यता और वैयक्तिक वेदनानुभूति ने मिल-कर इनके गीतों को जो आभिजात्य व्यक्तित्व प्रदान किया है, वैसा अन्यत्र कम ही मिलेगा।[४]

---

१ वंशी और मादल—ठाकुर प्रसाद सिंह
२ शिंजिनी—शिवबहादुर सिंह
३ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गीत
४ कौन थकान हरे जीवन की।

बीत गया संगीत प्यार का रूठ गई कविता भी मन की
बंशी में अब नींद भरी है
स्वर पर पीत सांझ उतरी है
बुझती जाती गूंज अखीरी
इस उदास बनपथ के ऊपर
पतझर की छाया गहरी है
अब सपनों में शेष रह गयीं सुधियाँ उस चन्दन के वन की।

प्रयोगवादी अथवा नई कविता के वाहकों में केवल गिरजाकुमार ने ही सुन्दर गीत नहीं लिखे, वरन् प्रयोगवादी आन्दोलन के प्रवर्तक श्री अज्ञेय तथा श्री बालकृष्ण राव, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल, केदार, नरेश मेहता, अजित कुमार, रमासिंह, कैलाश वाजपेयी प्रभृति कवियों ने भी सुंदर गीतों की रचनायें की हैं। मध्य प्रदेश के दो गीतकारों भवानी प्रसाद तिवारी और भवानी प्रसाद मिश्र का कृतित्व इस दिशा में कम नहीं है। भवानी प्रसाद मिश्र का कार्य विशेष महत्व रखता है। गीत को संगीत से अधिक गद्यात्मक तथा सारल्य में व्यंग्य की जो तीक्ष्णता भवानी मिश्र के गीतों में मिलती है, अन्यत्र नहीं।

बच्चन की गीतपरम्परा से अत्यन्त प्रभावित तथा इनसे निकटतम संबंध रखने वाली एक पीढ़ी का उदय द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य हुआ। इनमें नीरज, रमानाथ अवस्थी, रामवतार त्यागी, गिरधर गोपाल, वीरेन्द्र मिश्र, रामकुमार चतुर्वेदी, चन्द्रप्रकाश वर्मा आदि के नाम अग्रणी हैं। इनमें नीरज का नाम अधिक प्रचारित हुआ। नीरज के गीतों में आवेग का प्राधान्य है।[1] वासना का ज्वार भी कहीं-कहीं उठता दिखाई देता है। कालान्तर में वही राजनीतिक प्रचार एवं सामाजिक सुधार के रूप में परिवर्तित हो गया।

नीरज अपनी पीढ़ी का सम्भवतः सर्वाधिक शक्तिशाली कवि है, मानवता के प्रति जैसी अदम्य आस्था, प्रेम की उत्कट अभिलाषा और अभिव्यक्ति की जैसी

रात हुई पंछी घर आये
पथ के सारे स्वर सकुचाये
म्लान दिया बाती की वेला
थके प्रवासी की आँखों में आँसू आ-आ कर कुम्हलाये,
कहीं बहुत ही दूर उनींदी झाँझ बज रही है पूजन की।
कौन थकान हरे जीवन की।

१ विभावरी दो गीत, प्राणगीत, नीरज की पाती इत्यादि गीतसंग्रह पठनीय हैं।

प्रभावपूर्ण शैली नीरज के पास थी वैसी कम ही देखने में आती है। नीरज के साथ एक बात और भी थी और वह था उसका संघर्षपूर्ण जीवन, जिसमें उसका तन, मन, तप-तप कर निखर रहा था। यह निखार उसे बहुत आगे ले जाने में समर्थ था; किन्तु वह बुझने लगा। अध्यात्म और दर्शन ने उसके आवेग को दबा दिया। राजनैतिक प्रचार ने उसके कलात्मक दृष्टिकोण को शिथिल कर दिया और जनवादी तथा कवि-सम्मेलनों में दिग्विजयी बनने की चेष्टा ने उनकी भाषा को खिचड़ी बना दिया। नीरज अपने प्रारम्भ की रचनाओं में जितना सुष्ठ दिखाई देता है, इधर की रचनाओं में वैसा नहीं।

काव्य की उत्कृष्टता में रमानाथ अवस्थी का नाम इस पीढ़ी के प्रमुख गीतकार के रूप में लिया जा सकता है। रमानाथ ने कम लिखा है; किन्तु जितना लिखा है वह अच्छा लिखा है। 'रात और शहनाई' नाम का गीतसंग्रह उनकी सम्पूर्ण विशेषताओं का उद्‌घाटन करता है। प्रेम की पीर और उसके प्रति सुलगती अग्नि-शिखा तथा प्रेम का महानतम् पक्ष इनके गीतों में देखा जा सकता है। रमानाथ अपने भावनात्मक दृष्टिकोण और सीधी तथा सरल गीतविधा के लिए अपनी पीढ़ी के अग्रणी गीतकारों में से हैं।

'मेरी कविता के अर्थ अनेकों हैं,
जो भी तुमसे लग जाय लगा लेना,'
'सो न सका मैं, याद तुम्हारी आयी सारी रात,
और पास ही बजी कहीं शहनाई सारी रात'
'सिंधु में डूबा न मैं, डूबा नयन के नीर में,
तुम मेरे होकर कहीं रहो, मैं बहुत-बहुत खुश, तनिक-तनिक नाराज'
'तुमने मुझे बुलाया है, मैं आऊँगा, बन्द न करना द्वार देर हो जाये तो'

इत्यादि गीतों में रमानाथ की भावात्मकता, छन्द-विधान और शब्द-शिल्प भली भाँति देखा जा सकता है। बच्चन से प्रभावित परवर्ती गीतकारों की नयी पीढ़ी में रमानाथ ने भाषा को जो ऋजुता प्रदान की थी, वह सुरेन्द्र

तिवारी के अतिरिक्त अन्य लोगों में प्रायः कम ही देखने को मिलती है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि रमानाथ की अभिव्यक्ति गगनगामी अधिक रही। धरती की कठोरता से उन्हें चांद, बादल, फूल और पंखुड़ियाँ अधिक प्रिय हैं। रमानाथ के प्रतीक भी अधिक सांकेतिक हैं। सुरेन्द्र तिवारी बच्चन के अधिक निकट इस दृष्टि से भी हैं कि उनके गीतों में न तो अमूर्तता है और न भाषाडम्बर।

वीरेन्द्र मिश्र का नाम इस पीढ़ी के प्रमुख गीतकार के रूप में रक्खा जा सकता है। इनके गीतों में जन-जागरण के स्वर तो मुखरित हुए ही, नये छन्द और नये प्रतीक भी मिले। वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में संगीत के आरोह अवरोह पर आधारित मानव की मधुरिम भावनाओं का चित्रण हुआ है। लोकदृष्टि और प्रखर वर्णन भी इनके गीतों की आधारभूमि है। पुराने प्रतीकों के सहारे नये भावचित्रों की उद्‌भावना वीरेन्द्र ने अपने गीतों में बड़ी कुशलता से की है। राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता के नारे भी इनके गीतों में गूँजते दिखाई देते हैं; परन्तु बड़े कलात्मक ढंग से। वीरेन्द्र के गीतों का प्रभाव सुनने पर जितना अधिक पड़ता है उतना पढ़ने पर नहीं। शायद इसका यही कारण है कि उनके गीत संगीत के स्वर और ताल से अधिक बँधे हुए हैं और जब तक उनके आरोह-अवरोह तथा क्रम-विराम का परिचय पाठक को न हो, तब तक उसे वैसा रस नहीं मिलता जैसा मंच से सुनते समय होता है।

कैलाश वाजपेयी के गीतों में भी यही बात है परन्तु अब वे गीत की गूंज से बहुत दूर चले गये हैं।

रामावतार त्यागी के गीतों में गहरी अनुभूति और प्रेम-भावना का निरूपण तो हुआ है ही, साथ ही रूढ़ियों के प्रति तिरस्कार और उपेक्षा की भावना भी व्यक्त हुई है। उनके गीतों में एक ऐसी मस्ती छायी रहती है जो व्यक्तित्व के बिना प्रभावपूर्ण नहीं बन पाती। त्यागी के गीतों में वह व्यक्तित्व विद्यमान है जिसके द्वारा उनके गीत प्राणवान बन जाते हैं। इनके गीतों में

मानव के प्रति ममता और उसकी अखंडता पर अदम्य आस्था स्पष्ट देखने को मिलती है। त्यागी के गीतों में कलाकार का 'अहं' भी बड़ी स्पष्टता के साथ मुखरित हुआ है।

बच्चन के परवर्ती गीतकारों ने गीत का विकास एकांगी दृष्टि से न करके बहुमुखी रूप में किया है। कुछ ने बच्चन तथा अन्य समकालीन कवियों से प्रभाव ग्रहण किया तो कुछ ने अपने नये मार्ग बनाये। बच्चन के परवर्ती कवियों में जिन प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों ने गीत काव्य को उत्कृष्ट बनाने में योग दिया या दे रहे हैं, उनमें श्री वीरेन्द्र कुमार जैन, रामेश्वर शुक्ल 'तरुण', नेमिचन्द्र जैन, निरंकार देव सेवक, श्यामबिहारी 'तरल', शील, नर्मदा प्रसाद खरे, देवराज 'दिनेश' शान्ति एम० ए०, तारा पाण्डेय, स्नेहलता 'स्नेह' राजनारायण विसारिया, रामावतार 'चेतन', महेन्द्र भटनागर, 'शिशु' रामानन्द 'दोषी 'दीपक, बालस्वरूप' राही', परमेश्वर 'द्विरेफ', तन्मयबुखारिया, रामकुमार 'चंचल', दिवाकर, मधुर शास्त्री, गोपालकृष्ण कौल, पद्मा सुधि, रामदरश मिश्र, रामस्वरूप 'सिन्दूर', श्रीकांत जोशी, शकुन्तला सिरोठिया, रवीन्द्र 'भ्रमर', रूपनारायण त्रिपाठी, श्रीकांत वर्मा, चन्द्रदेव सिंह, शेखर, जगतप्रकाश चतुर्वेदी, देवीप्रसाद 'राही' उपेन्द्र, मुकुट बिहारी 'सरोज', सलिल, सोम ठाकुर, सुरेन्द्रपाल सिंह, प्रताप नागर इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बच्चन के बाद गीत को जिन जिन मोड़ों से गुजरना पड़ा और उसमें जितने प्रयोग हुए तथा हो रहे हैं, उसको देखते हुए गीत के सम्बन्ध में किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि साहित्य की अन्य सभी विधाओं की भाँति गीत का क्षेत्र भी हलचल से मुक्त नहीं है। यह दूसरी बात है कि आज हिन्दी-गीत-काव्य जिस उच्च धरातल पर पहुँच चुका है, उससे आगे का मार्ग कोई शक्तिशाली गीत-लेखक निकाल पाता है या नहीं, और इसी प्रश्न के उत्तर में गीत काव्य का भविष्य निहित है।

———

'उर्म्मिला' : एक विश्लेषण

'उर्म्मिला' जैसा कि नाम से ही विदित है, जनक तनया और लक्ष्मण पत्नी की कथा है। बालमीकि से लेकर तुलसी तक जिस परम तपस्विनी और गर्विणी उर्मिला की उपेक्षा अपने काव्य-ग्रन्थों में करते आ रहे थे, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा इस ओर इंगित किये जाने पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' और पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'उर्म्मिला' नामक प्रबन्धकाव्यों की रचना करके 'उर्मिला' के महत्व को प्रकाशित किया। यद्यपि साकेत में प्रमुखता उर्मिला को दी गई परन्तु गुप्त जी का रामभक्त हृदय उर्मिला को जितना रुला सका है, उतना उसके महत्व को प्रतिष्ठित नहीं कर सका। 'नवीन' जी की 'उर्मिला' में उर्मिला का महत्व असंदिग्ध है और उसके चरित्र एवं प्रवृत्ति का विश्लेषण जितने व्यापक रूप में 'उर्मिला' महाकाव्य में हुआ है, अन्यत्र नहीं मिलेगा। परन्तु नवीन जी का हृदय जितना अधिक उर्मिला को देना चाहता था, उतनादेने की सामर्थ्य रखते हुए भी दे नहीं पाया। इसका कारण शायद यह भी हो कि नवीन जी का कवि उर्मिला को अपने देश और समाज की समस्याओं के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत कर पाया। देश जिस स्वातन्त्र्य संघर्ष में जूझ रहा था और उसके एक सक्रिय सिपाही होने के नाते नवीन जी को उसमें व्यस्त रहना पड़ता था; अतः उर्मिला का चरित्र चित्रण जितने व्यापक रूप में होना चाहिये था उसकी बजाय राम का ईश्वरत्व, कर्त्तव्य बोध के प्रति प्रवचन और हिंसा अहिंसा जैसी समकालीन विचारधारा के समावेश ने उर्मिला को अप्रतिम नायिका नहीं बनने दिया। उर्म्मिला की कथा जितने बड़े कैनवास पर नवीन जी ने चित्रित की है वैसी हिन्दी के किसी भी काव्य में नहीं मिलती तथापि नवीन जी की अप्रवन्धात्मकता ने उर्मिला के चरित्र को जितना शक्तिशाली बनाना चाहिए था नहीं बनने दिया। कवि की जो अन्तर्भावनाएँ

'उर्मिला' के माध्यम से व्यक्त की गई हैं, उनमें से अधिकांश कवि की समकालीन भावधारा और द्वन्द्व का प्रतिनिधित्व तो करती हैं; परन्तु उर्मिला का चरित्र उसके अन्तर्गत अप्रतिम नहीं बनता। 'उर्मिला' के चरित्र चित्रण में कई स्थलों पर सूझबूझ भरी मौलिकता नवीन जी की इस कृति की बहुत बड़ी विशेषता अवश्य है; परन्तु उसका निर्वाह सम्पूर्ण कृति में नहीं हुआ है। पुराने महाकाव्यों में तुलसी के रामचरित मानस और जायसी के पद्मावत अथवा आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र अथवा रश्मिरथी में जैसा गठन देखने को मिल सकता है, वैसा नवीनकृत 'उर्मिला' में नहीं मिलता।

कवि के जीवन का उसकी रचना पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ता है, इस उक्ति के अनुसार कहा जा सकता है कि नवीन जी के असंगठित जीवन और विचारधारा का प्रभाव 'उर्मिला' में भी पूर्णरूपेण विद्यमान है। यह भी संभव है कि भावुक मन स्थिर नहीं रह पाता और नवीन जी स्वयं भावुकता के शिकार थे। क्षण में वे अत्यन्त कठोर और क्षण में वे नवनीत के समान कोमल हो जाते थे। किन्हीं प्रश्नों पर कभी वे हिमालय की तरह अडिग से दिखाई देते तो कभी बालसुलभ भोलेपन से झुक जाना भी उनके स्वभाव में था। उनके अव्यवस्थित जीवन ने उनके विशाल हृदय की सरसता और सहजता को इतना विस्तार प्रदान कर दिया था कि कहीं कहीं उनकी दृढ़ता डगमगाती-सी जान पड़ती है। कवि चाहे जितना अपने को तटस्थ रखने की चेष्टा करे; परन्तु अपनी रचनाओं से अपने को असम्पृक्त रखना अत्यन्त कठिन कार्य है। नवीन जी की 'उर्मिला' पर भी उनके जीवन-दर्शन की स्पष्ट छाप मिलती है।

'उर्म्मिला' का एक यह भी पक्ष है कि उसका प्रथम सर्ग १९२२ में लिखा गया और शेष पाँच सर्ग सन् १९३२ से १९३४ के बीच में लिखे गये और ग्रंथ का प्रकाशन हुआ, सन् १९५७ में। इस प्रकार प्रथम सर्ग और शेष पाँच सर्गों

की रचना में बारह वर्ष का, प्रकाशन होने तक पैंतीस से तेईस वर्ष तक का जो लम्बा अन्तराल है, वह भी अपने में एक कारण है; क्योंकि इस लम्बे काल में देश, समाज और काल अन्यान्य स्थितियों को पार करके नये-नये रूपों में बदल चुके। देश की पराधीनता काल में इसकी रचना हुई और स्वाधीनता के बातावरण में प्रकाशन हुआ। इस काल विशेष में समाज की चेतना और देश की स्थिति में न केवल असाधारण परिवर्तन हो गया, प्रत्युत संपूर्ण दृष्टि-कोण ही बदल गया और उसी के अनुसार संसार को नये परिप्रेक्ष्य में देखा और समझा जाने लगा।

हमने प्रारम्भ में ही कहा है कि 'उर्मिला' रामकथा की लड़ी की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जिसे नवीन जी ने नये सन्दर्भ में रखने का प्रयत्न किया है। गुप्त जी के 'साकेत' और नवीन जी की 'उर्मिला' में असमानता होते हुए भी समानता जैसी स्थिति है। जिन विचारों अथवा मान्यताओं की 'साकेत' में एक झलक उसे मिलेगो, 'उर्मिला' में विस्तार मिला है। एक विशेष अन्तर यह अवश्य है कि 'उर्मिला' का कथासूत्र जनकपुरी में सीता, उर्मिला रूपी नन्हीं बालिकाओं से चलता है और 'साकेत' में वह अयोध्या की पुत्र वधुओं के स्वरूप में। 'उर्मिला' का प्रथम सर्ग जैसे जनकपुरी के वैभव और राजा जनक के प्रांगण का भव्य चित्र है, वैसा ही 'साकेत' का प्रथम सर्ग अयोध्यापुरी और दशरथ के राजप्रासाद की मनोरम छवियों से अंकित है।

नवीन जी ने 'उर्मिला' की भूमिका में स्पष्ट करते हुए लिखा है—''मेरी इस 'उर्मिला' में पाठकों को रामायणी कथा नहीं मिलेगी——इस ग्रन्थ को मैंने विशेष कर मनःस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का दर्पण बनाने का प्रयास किया है। मैंने राम-बनगवन को एक विशेष रूप में देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। राम की बनयात्रा मेरी दृष्टि में महान अर्थपूर्ण आर्य-संस्कृति-प्रसार-यात्रा थी।''

कवि के उपर्युक्त शब्दों में कृति का संपूर्ण उद्देश्य स्पष्ट है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवीन जी की इस कृति में 'उर्मिला' के नारी हृदय का चित्रण है, और है आर्य संस्कृति का आधुनिक विश्लेषण। नवीन जी ने जो उद्देश्य प्रकट किया है, उस दृष्टि से तीसरा, चौथा और छठा सर्ग सर्वोत्तम है। पाँचवें सर्ग में 'उर्मिला' का नारी हृदय बड़ा प्रभावपूर्ण बना है; किन्तु उस पर रीतिकालीन छाया बहुत गहरी है। नवीन जी की काव्य प्रतिभा तीसरे और चौथे सर्ग में तथा चिंतन और मौलिक विश्लेपण छठे सर्ग में विशेष रूप से प्रकट हुआ है।

प्रथम सर्ग में सीता और उर्मिला का बाल्यकाल का चित्रण है। इसमें भाव सौंदर्य कम और शब्द सौंदर्य अधिक है। द्वितीय सर्ग में लक्ष्मण और उर्मिला के दाम्पत्य जीवन का वर्णन हुआ है। इसमें दाम्पत्य जीवन का शृंगार पक्ष जितना शक्तिशाली है उतनी ही आध्यामिक और गहन चिन्तन की स्थिति भी व्याप्त है। इस सर्ग का संयोग पक्ष बहुत सफल है।

तीसरे सर्ग में वियोगिनी उर्मिला का मार्मिक वर्णन है। नवीन जी का कवि हृदय इस सर्ग में खुल गया है, साथ ही लक्ष्मण का चरित्र-चित्रण नये रूप में हुआ है। इस सर्ग में दक्षिण के बनप्रान्तर को अज्ञान के अन्धकार से उद्धार करने के उपक्रम में बन यात्रा का वर्णन है। संभावित वियोग से व्यथित उर्मिला की भावनाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन के साथ नवीन जी ने 'लक्ष्मण' से जो कुछ कहलाया है, वह हिन्दी काव्य जगत में उनका सर्वथा नया स्वरूप है :—

यह है योगायोग, विमाता
तो बस एक बहाना है।
उस विकराल विपिन में जाकर,
उसका गर्व ढहाना है।
वन दुर्गमता सहज अटन में,
अहो देवि ! परिणत होगी।

उस दुर्लंघ्य विन्ध्य की चोटी,
राम लखन पद नत होगी ।
उत्तर दक्षिण का गठ बन्धन,
करे हमारी पद रेखा ।
जग यह देखे जिसको उसने,
अब तक कहीं नहीं देखा ।
नव सन्देश ज्ञान शुचिता के,
हम वाहक निष्कामी हैं ।
यह आदर्श प्राप्त करने को,
राम लखन वन गामी हैं ।

नवीन जी के इस नये दृष्टिकोण ने जहाँ कैकेयी के कलंक और बनयात्रा की विभीषिका को घटा दिया है वहाँ ऊर्मिला के वियोगाभिभूत प्रेमसागर में आदर्श की ईंट फेंक कर उसे उछाल दिया है । लक्ष्मण के आदर्श एवं त्याग युक्त वचनों ने ऊर्मिला के अनुराग भरे हृदय को दबा दिया है । यहाँ भी ऊर्मिला वैसी ही उपेक्षिता रह गई, जैसी बालमीकीय रामायण और तुलसी के मानस में रही । वाल्मीकि ने कथा-क्रम से और तुलसी ने पारिवारिक व्यवस्था एवं अपने आदर्श को मुख्यता के क्रम में उपेक्षा की थी तो नवीन जी ने आर्य संस्कृति के प्रचारार्थ यात्रा करने वाले राम लक्ष्मण की कर्तव्य भावना में ऊर्मिला के आँसुओं को बह जाने दिया । 'ऊर्मिला' के मुख से वे कहलाते हैं :—

हम नारी हैं चिर प्रतीक्षिका,
हम है चिर प्रतीक्षिताएँ ।
चिर वियोग यज्ञाहुति से हम,
सन्तत हुई दीक्षिताएँ ।
निभृत कुटी की द्वार देहली,
पर चिर नेह प्रदीप धरे ।
युग-युग लौं उकसाती रहतीं,
हैं हम बाती हरे-हरे ।

नवीन जी ने उपर्युक्त पंक्तियों में भारतीय नारी की ज्वलंत साधना का ही चित्रण किया है। नारी के संबन्ध में नवीन जी ने राष्ट्र-कवि गुप्त जी की भावनाओं को ग्रहण किया है और उसे पूर्ण कर्तव्यपरायण औ बलिदानी भाव भूमि पर चित्रित किया है । नवीन जी ने यदा-कदा उन भावनाओं को झकझोरा भी है। गुप्त जी ने उर्मिला को जितना शालीन और सहनशील साकेत में रक्खा है, नवीन जी ने उसकी रक्षा करते हुए कुछ स्थानों पर उर्मिला की तेजस्विता भी दिखाई है। लक्ष्मण को पूर्णशालीन और उर्मिला को कठोर बनाकर नवीन जी ने परम्परागत चरित्र को नवीनता देने का प्रयत्न किया है। मानस में और साकेत में दशरथ के प्रति जो आवेश और कठोरता लक्ष्मण में दिखाई गई है। वही काम नवीन जी ने उर्मिला से कराया है। यद्यपि यहपरिवर्तन प्रभावशाली नहीं बन पाया। उर्मिला की प्रगल्भता, आवेश और कुलशीलता में औद्धत्य का प्रवेश हो गया है। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पर बचन न जाई'' धारणा पर कठोर प्रहार करते हुए वनगमन के समय उर्मिला का लक्ष्मण से अपने श्वसुर दशरथ के लिए यह कहा जाना:—

यह है सब पाखंड प्राणप्रिय
बुद्धि दोष का यह व्यापार,
जिसके वश नरपति ने खोया
यह समस्त सद्भाव विचार ।
परिमित है निःसीम नहीं है
धर्म, बचन, प्रतिपालन का
रखना पड़ता है विचार भी
जन समाज परिचालन का ।
वचन पालने में होता है
पूर्ण विचार हितामृत का
देश, काल, पात्र, परिस्थिति
धार्मिक भाव नृतानृत का ।

'वरंब्रूहि' कह देना भी क्या
कोई सहज ठठोली है ?
वर दें भिखमंगे वामन वे
जिनके कांधे झोली है !

इतनी विषण्ण होकर उसने जो प्रश्न उठाया उसका विचारक रूप में समाधान करती है:-

तुलनात्मक बुद्धि से व्रत का
पालन नहीं रहित होगा
व्रत परिपालन सदा प्राणप्रिय
ज्ञान विचार सहित होगा ।

नवीन जी ने उर्मिला को विद्रोहिणी चित्रित करते हुए उससे लक्ष्मण को इस प्रकार के कुकृत्य के विरुद्ध विद्रोह करने के हेतु प्रेरित कराया है । उर्मिला कहती है:-

कह दो आज पिता दशरथ से
कि यह अधर्म नहीं होगा
कह दो लक्ष्मण के रहते यह
घोर कुकर्म नहीं होगा ।

इतने पर भी लक्ष्मण को मूक और नत सिर देखकर कहती है:—

कहाँ गई वह सहज वीरता
उचट चोट करने बाली
कहाँ गई हुँकारमयी वह
वाणी भय भरने वाली !

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बनगमन के समय पर जो कार्य लक्ष्मण से कराया है उसके विपरीत नवीन जी ने यह दुर्वह भार उर्मिला के कन्धों पर

रख दिया। किन्तु यह कहने की जरूत नहीं है कि क्या प्रभाव और कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से तुलसी सफल हुये हैं, नवीन जी असफल ? नवीन जी की उर्मिला आवेग के पश्चात दार्शनिक विचार प्रकट करती है और तत्पश्चात वह सहज स्वभाव नारी बन जाती है—पत्नी ! प्रिया !

ओ प्रिय तनिक झाँक कर देखो तो
हुआ हृदय सूना-सूना
मुझे समस्त विश्व लगता है
प्रिय अतिशय ऊना-ऊना ।

प्रत्युत्तर में लक्ष्मण बनगमन की आवश्यकता, आर्य-संस्कृति-प्रचार का उद्देश्य, आदि पर लम्बा-सा व्याख्यान देने के पश्चात कहते हैं कि—

तुम कहती हो कि तुम चलोगी,
मेरे संग-संग बन में,
किन्तु देवि मैं राम नहीं बस,
और क्या कहूँ इस क्षण में ।

लक्ष्मण का इतना कह देना ही मुक्ति का मार्ग बन जाता है और उर्मिला पुनः कर्त्तव्यभावना से प्रेरित सारी घटनाओं तथा पात्रों के प्रति धन्य-धन्य कहने लगती है और अपनी त्यागपूर्ण भावना व्यक्त करती है—

मानवता की पाद पीठ पर
तुम को न्योछावर करके,
रो लेगी उर्मिला तुम्हारी
चुपके-चुपके जी भर के ।

इस कथोपकथन में उर्मिला प्रिय-बन्धन में ही थी, कि सीता आ गईं और उर्मिला को उपदेश करने लगीं। तुरन्त ही राम और फिर माता सुमित्रा

सभी उर्मिला को कर्त्तव्योपदेश करके चले जाते हैं और उर्मिला ? बाल्मीकि और तुलसीदास से उपेक्षित उर्मिला ? नवीन जी की प्रमुख पात्री बनकर भी गौण बन गई, उपेक्षिता ही रह गई।

उर्मिला का चतुर्थ सर्ग काव्य की दृष्टि से सर्वोत्तम है। वैसे इस सर्ग का प्रबन्धकाव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है और एक प्रकार से यह अपने में स्वतन्त्र मुक्तक रचना के समान है; परन्तु नवीन जी की काव्यप्रतिभा का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व इसी सर्ग में हुआ है। भाषा, शैली और छन्दविधान की दृष्टि से इसे पढ़ने पर अनायास ही प्रसाद जी के 'आँसू' की याद आ जाती है। 'नवीन' जी के इस सर्ग में आँसू जैसी वेदना, लालित्य, तीव्रानुभूति, भावप्रवणता, शिल्पविधान तथा हृदयस्पर्शी गुन्जन है। निश्चय ही नवीन जी ने इस सर्ग में उर्मिला के सन्दर्भ में प्रेम और विरह को वाणी प्रदान की है। उपमा, विम्बविधान तथा रूपकों की छटा भी इस सर्ग में विशेष कलात्मक है। इस सर्ग में छायावादी रचना का पूर्ण परिपाक देखने को मिलता है। चतुर्थ सर्ग को 'नवीन' जी ने 'विरह-मीमांसा' के नाम से अभिहित किया है और वैसा ही मार्मिक तथा भाव भरा चित्रित किया है—

सन्ध्या के श्यामल क्षण में
चिर दीपशिखा-सी जलती,
जड़ता के काले तल में
जीवन की सिसक उछलती।
सन्ध्या आ फैलाती है
अँधियाले रंग का आँचल,
उसमें भर देता कोई
गहरी वेदना अचंचल।
झुटपुटे समय में कोई
नीरव गायन गाता है,

मानस दिङ्मण्डल को यह
कम्पित करता जाता है।

उपमा-विधान —

उजियाले को अँधियाला
आ ढँक लेता है, ऐसे,
श्यामल आँचल ढंकता है
सुकुमार गौर मुख जैसे।

रूपक भी द्रष्टव्य है —

वेदना अथक पनिहारिन
है आह लचीली रसरी,
हिय गहर-गंभीर कुआँ है
है नयन छलकती गगरी।
है स्मृति रस्सी का फन्दा
संकल्प बना है भव-भव
श्वासारोहण अवरोहण
है घट का खिंचना जब-तब
भर-भर कर ढरकाती है
वेदना नयन-गगरी को
पंकिल कर-कर देती है
लघु आशा की डगरी को।

प्रिय के प्रति प्रेमी के रागात्मक उद्गारों में छायावादी अमूर्तता व्याप्त है—

पर्दे में छिपकर निष्ठुर
क्यों देते हो यह पीड़ा ?
मत विलग रहो इक छिन भी
अब आओ करते क्रीड़ा।

आ जाओ ठुमुक-ठुमुक के
जल-थल में जड़-चेतन में
हो जाओ प्रकट सलोने,
क्षण-क्षण में औ कण-कण में ।

रहस्यात्मकता तथा वेदना की स्पष्ट अनुभूति को इस सर्ग में अभि-व्यक्ति मिली है । विरही का प्रत्येक क्षण कितना व्यथापूर्ण और चंचल होता है, इसका वर्णन इस सर्ग में बड़ी गहराई के साथ हुआ है । कवि का हृदय जैसे विरहिणी उर्मिला के हृदय की व्यथा भरी वंशीध्वनि से एकाकार हो गया है —

आँसू उमड़े अन्तर से
चिर हिय-मंथन के फल ये,
सम्भूत हुए हृत्तल में
वेदना-प्रसाद विकल ये ।

*   *   *

आँसू से सींच रहा है
जीवन का पादप कोई
पत्तियाँ मनोरथ की ये
सिहरी हैं धोई-धोई ।

*   *   *

जीवन ऋतुओं को हिय ने
पावसमय बना दिया है।
सब आशाओं को इसने,
क्या ही अनमना किया है ।

इस सर्ग में भी यद्यपि 'नवीन' जी का तत्व-दर्शन छूट नहीं गया, परन्तु वह काव्य की सबलता में दब गया है । अश्रु की व्याख्या है —

है अश्रु तत्व प्रजनन का,
है अश्रु सार संसृति का।
है अश्रु तार विधना की,
इस मोहनमाला-कृति का।

व्यक्ति में व्यक्ति गुम्फित कर,
इस जल की तरल लड़ी में।
सामूहिकता उपजाई,
वैयक्तिक कड़ी-कड़ी में।

इस प्रकार १०४ छन्दों के इस सर्ग में ८५ छन्दों में प्रकृति, विरह, प्रेम, अश्रु आदि का वर्णन होने के पश्चात् प्रबन्ध काव्य के वर्ण्य विषय की चर्चा होती है और दस, बारह पंक्तियों को छोड़ कर यदि देखें तो यह पूरा का पूरा सर्ग अपने में पूर्ण स्वतन्त्र मुक्तक रचना खण्ड है। यद्यपि अत्यधिक मार्मिक एवं काव्य के पूर्ण वैभव से युक्त।

पाँचवाँ सर्ग ब्रजभाषा और दोहा छन्द में है। इसमें ७०४ दोहे हैं। एक प्रकार से नवीन जी ने रीति कालीन कवियों के अनुकरण पर सतसई की रचना कर दी है। इस सर्ग में भी प्रबन्ध काव्य के तत्वों का पूर्ण अभाव है। दोहा छन्द के स्वभावानुसार एक भाव की अभिव्यक्ति एक दोहे में प्राय: हो गई है। उनमें क्रम नहीं है—कथा का प्रवाह और उसके तारतम्य का तो अभाव है ही। दोहे बहुत ही सुन्दर रचे गये हैं, परन्तु उन पर रीति कालीन प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है—

चले जाहु मोरे सजन, अनबोले सकुचात।
हिय की हिय में रहि गई, नैकु न निकसी बात॥
मुरि जनि देखहु तुम इतैं, हे सुकुमार कुमार!
अरुझि जाइँगे दृग इहाँ बिछे साँस के तार॥
बीहड़ कानन सम भयो, जीवन-वन एकान्त।
सघन विरह पल्लवन सौं, भयो प्रपूर्ण दिनान्त॥

दुसह बिथा के जमि गये, विकट झार-झंखार ।
नित संकल्प-विकल्प के ठाढ़े भये पहार ।।

* * *

बन लोभी तुम विपिन प्रिय अहो सुमित्रा लाल ।
मम जीवन-वन में तनिक चलहु अटपटी चाल ।।
विकल प्राण, आकुल नयन, व्याकुल मन, तन छीन ।
बुद्धि चकित, हिय दुःख निरत, 'अहं' सुरत रसलीन ।।

इस सर्ग में नवीन जी की गागर में सागर भर देने की शक्ति का प्रदर्शन हो गया है। एक ही दोहे में एक पूर्ण भाव-चित्र प्रस्तुत करने तथा काव्य के कई विशिष्ट लक्षणों का समावेश कर देने की सामर्थ्य दृष्टव्य है—

सिसक लहर, हिचकी भँवर, आह भई कल नाद ।
नयन द्विवेणी तें उमड़ि, छलक्यो फेन-विषाद ।।

विरहानल की धधकती ज्वाला में जो तपन होती है, नवीन जी ने उसका बहुत ही कुशलता से वर्णन किया है। इसमें भी दर्शन ने उनका पीछा नहीं छोड़ा है। यूं नवीन जी शांकर मतावलम्बी-से लगते थे। बुद्धि से अद्वैत के पोषक होते हुए भी कवि 'नवीन' का हृदय द्वैत में शान्ति पाता है। दार्शनिक नवीन से कवि नवीन सबल रहा है। शायद यही कारण है कि द्वैत अद्वैत की अत्यधिक चर्चा करने के बावजूद कवि एक मार्ग चुनने में असमर्थ रहा। एक स्थल पर जहाँ वे लक्ष्मण से कहलाते हैं, उनका मस्तिष्क बोल रहा है—

एक सूत्र, एक लय, एक तान, एक गान,
एक ध्यान भेद कहाँ, पर में अपर में ?

वे ही उर्मिला से कहलाते हैं, जो उनके हृदय की भावना का प्रतिनिधित्व करता है—

दरस पिपासा जो मिटै, तौ यह कैसो नेह,
बरसावहु प्रिय द्वैत को, रिमझिम रिमझिम मेह।

जैसे चतुर्थ सर्ग में नवीन जी का वियोग वर्णन अमूर्त तथा छायावादी परिधान में था, वैसे इस पाँचवें सर्ग में 'ललन चलन' वाली शैली का प्रावान्य है। दोनों ही सर्गों में नवीन पद्धति का अभाव है, परन्तु श्रृंगारिक उर्मिला का चित्र पाँचवें सर्ग में ही चित्रित हुआ है। इसमें नवीन जी उर्मिला के प्रेम-भावों को मूर्त्त रूप दे सके हैं। उर्मिला का यह कथन पठनीय है—

आलिंगन की भावना, सँग रहिबे की चाह,
शिशिर निराशा में करत, शीतल हिय उत्साह।

यद्यपि नवीन जी ने पूरे महाकाव्य में दार्शनिक विवेचन और कर्त्तव्य-परायणता की छाया में उर्मिला की कथा कही है, तथापि पाँचवें सर्ग में प्रेम की मांसल अभिव्यक्ति को भी इसमें स्थान मिला है। अतिभावाकुलता का पक्ष ज्यादा खुल जाता यदि नवीन जी परम्परागत प्रेमाख्यान का आधार ग्रहण न करते। इस सर्ग में उर्मिला को हम सूर की प्रेम वियोगिनी बावरी राधा का कृष्ण के प्रति अनन्य भाव तथा गिरधर नागर के लिए व्याकुल मीरा की छवियों को देख सकते हैं, साथ ही जयदेव और विद्यापति की श्रृंगारी तथा परम रमणी राधा जैसी स्थिति भी देख सकते हैं।

परन्तु इतना कहा जा सकता है कि 'उर्मिला' महाकाव्य की नायिका दृढ़व्रती उर्मिला प्रथमबार कोमल नारी के रूप में चित्रित हुई है। यदि उर्मिला का चित्रण दार्शनिक आधारों की प्रचुरता के बजाय नारी के भाव-स्वरूप में हुआ होता तो कदाचित उर्मिला महाकाव्य आधुनिक महाकाव्यों में अग्रगण्य बन जाता। वैसे साकेत की उर्मिला से नवीन जी की उर्मिला अधिक तेजस्वी और प्रखर है। नवीन जी ने पाँचवें सर्ग में उर्मिला के द्वारा प्रेमयोग की दार्शनिक व्याख्या बड़े विस्तार से कराई है। योग में प्रेमयोग को ही सर्वोत्तम मानते हुए, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को ध्यान, समाधि, आसन के अन्तर्गत देखने की चेष्टा

की गई है। प्रेमयोग की आधारशिला क्या है, इस पर दृष्टि डालते ही हम देख सकते हैं कि नवीन जी पर वैष्णव भावना का गहरा प्रभाव है। यह उनके रागी हृदय के अनुकूल है। ज्ञानयोग से प्रेमयोग को श्रेष्ठ घोषित करके बल्लभ सम्प्रदाय की साधनापद्धति और सूर की काव्यपरम्परा का ही अनुकरण किया गया है। मध्यकालीन सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि में सिद्धों और नाथों की जो मान्यताएँ प्रवेश पा गई थीं और उनके लिए जो प्रतीक अपना लिए गये थे, समकालीन भक्त कवियों ने उनका कलात्मक माध्यम से विरोध किया था। खास कर बल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने उन तमाम क्लिष्ट कल्पनाओं का जिनका प्रचार साधना के नाम पर किया जा रहा था; अपनी मधुरोपासना के द्वारा उच्छेदन किया। नवीन जी ने बीसवीं शताब्दी में भी उसी धारा का प्रतिनिधित्व किया है। योग की विभिन्न अवस्थाओं का प्रेम में कैसे विलय हो जाता है, इस की व्याख्या उन्होंने विरहिणी उर्मिला के द्वारा कराई है : यथा—

प्रेमयोग में मिलत यों, नित समाधि आनन्द।
चिदानन्द मय, भक्ति युत, मिलत मुक्ति स्वच्छन्द॥
ज्ञानयोग सायास है, प्रेमयोग अनयास।
एक शून्यमय ध्यान है, दूजो दरस विलास॥
ज्ञानयोग में रहत है, नित विरोध को त्रास।
प्रेमयोग बन्धन रहित विनिर्मुक्त आभास॥
ज्ञानयोग अभ्यास में, बरजोरी को संग।
प्रेमयोग के पाठ में, स्वेच्छित हृदय उमंग॥

लक्ष्य की दृष्टि से मुक्ति प्राप्त करना ही योग का कार्य है और लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग और प्रेमयोग जैसी साधना-पद्धति सर्वविदित है। कर्मयोग का पक्ष महत् था, परन्तु नवीन जी ने सामाजिक भूमि के बजाय इस जगह परम्परागत साधकों को दृष्टि में रख कर केवल ज्ञानयोग

तथा प्रेमयोग की चर्चा की है और इस चर्चा में योग के ऊपर प्रेम की श्रेष्ठता स्वीकार की है। दोनों के लक्ष्य को समान मानकर भी दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है—

अन्तर एतो जानिए, प्रेम-योग के बीच।
एक चलत मस्तिष्क में, दूजो हृदय उलीच ॥

नवीन जी पर सन्तों का सधुक्कड़ी रंग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। सम्भव है यह उनके अलमस्त जीवन की विशेषता ही हो, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति में वह अनन्य रूप से विद्यमान है—

काम, क्रोध, मद, लोभ तजि, मत्सर, द्वेष, विकार,
चलिए पिय की डगरिया, यहै चिरन्तन प्यार।

कहना न होगा कि नवीन जी हृदय के कवि थे और प्रेम उनकी मान्यता का केन्द्र विन्दु था। हृदय का प्रेम ही उनके लिए पूजा की चीज थी, जीने की कला थी और मस्तिष्क की शांति भी। अस्तु, लगभग पाँचसौं दोहों में उर्मिला के मनोरागों, उच्छ्वासों, का विशद वर्णन करने के पश्चात् उर्मिला को राम-सीता तथा प्रिय पति लक्ष्मण की बनयात्रा की सुधि आती है। इस प्रकरण में उर्मिला की भावाकुलता को मेघदूत की शैली ने प्रभावित किया है। नवीन जी ने उर्मिला से अपने प्रियजनों की कुशलता दक्षिण बयार से पूछने का उपक्रम कराया है। निश्चय ही यहाँ कालिदास के मेघदूत की शैली को ग्रहण किया गया है, जिसमें प्रेमी हृदय जड़-चेतन का भेद भूल कर चराचर से स्वयं को सम्पृक्त कर लेते हैं।[१] इस शैली का अनुकरण अनेक कवियों ने अपनी

---

१ धूम ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्वमेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्याद परिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे,
कामार्ताहि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु ॥

रचनाओं में किया है । तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी वियोगावस्था में वृक्षों, शाखाओं तथा पशु-पक्षियों से सीता के सम्बन्ध में पूछने लगते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर सैनी, तुम देखी सीता मृग नैनी !

तब उर्मिला दक्षिण पवन से क्यों न पूछे ?—

कहु-कहु कैसे हैं सजनि, ऐ री दखिन बयार,
कहु शिर पै केतो बढ़्यो जटा जूट को भार।
केती गहरी बोल री, भईं बिवाईं पायँ,
कुलिश शूल केते गये, तलुअन बीच समाय।
रघुकुल की श्रीकीर्ति वह, मिथिला कुल की कान,
कैसी हैं मम अग्रजा, कोमल पुहुप समान।
जिनके स्वप्निल नयन में, देश-काल आकाश,
आर्य राम वे करत किमि, कहु बन बीच निवास ?

और प्रिय की कल्पना छवि का ध्यान करते हुए—

वर्षातप आँधी, प्रखर, शीत, उपल को त्रास,
अरु बन-बन को डोलिबो, तृण-कुटीर को बास।
बल्कल पट सों अरुझि कैं, बन-झारिन के शूल,
कहत होंयगे सजन सों, आये कित पथ भूल।
चढ़ि ऊँचे गिरि शिखर पै, लै दृढ़ धनु की टेक,
पीय निहारत होयँगे, दूर छितिज की रेख।

इसी प्रकार उर्मिला अपनी वियोगावस्था में कर्त्तव्यशीला नारी की भाँति स्वजनों की चर्चा करती हुई, विवेकशीला-त्यागमयी बन कर कह उठती है—

मानवता किमि पावती, ये अमोल उपहार,
यदि न उर्मिला-सदन में, होतो हाहाकार।

क्योंकि वह यह भी जानती है—

'एक खपै बरु जग जियै, यहै धर्म को तत्व'

अथवा—

'कछु व्यक्तिन को हिय दरद, जग को मरहम होय'

प्रकृति का नियम है, दिन के साथ रात, सुख के साथ दुःख, हास्य के साथ रुदन, अभिन्न रूप में रहते हैं। परन्तु निष्ठापूर्ण जीवन जीने वाले सच्चे प्रेमी के जीवन की धारा दूसरे रूप में ही प्रवाहित होती है। नवीन जी ने यहाँ प्रेम को सर्वोच्च तथा प्रेमी को बलिदानी की संज्ञा देकर उसी सन्दर्भ में उर्मिला से कहलाया है—

बिना मोल बिक जाइबो, यहै नेह की लीक।

* * *

बिन सोचे बिन कछु कहे, बिना भाव अनजान,
न्यौछावर ह्वै जात है, दृग, मन हिय, जिय, प्रान।

ऐसे जनों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है—

जोगी जोगिनि प्रेम के, आतुर याचक नाहिं,
वे हैं प्रेमी बावरे, ठाकुर जिन हिय माँहि।

'नवीन' जी का व्यक्तित्व मानिनी प्रेमिका उर्मिला की इन पंक्तियों में बोल उठा है—

काऊ कौं यदि ठसक यह, कि हम बड़े रसराय।
हमें ठसक यह भक्त हम, निःसाधन निरुपाय॥

नवीन जी की मौलिकता उनके हृदय की निर्मलता में विद्यमान है, शिल्प की कारीगरी अथवा उपमा आदि अलंकार विधान में नहीं। अपने पूर्ववर्ती

या समवर्ती महाकाव्यों की प्रेरक छाया जहाँ तहाँ उनकी रचना में देखने को मिल जायेगी। गोस्वामी तुलसीदास की यह पंक्तियाँ—

नाम पाहरू दिवस निसि, प्राण जाहिं किहि बाट ?

के समान उर्मिला की यह उक्ति—

हिय, जिय दृग उच्छ्वास में पीतम रहे समाय।
रोम-रोम में पिय बसे, प्राण कहाँ ते जाय॥

यद्यपि ब्रजभाषा और दोहा छन्द की पुरानी परिपाटी को माध्यम बना कर नवीन जी ने आधुनिक काव्यधारा के विपरीत पक्ष को ग्रहण किया है और जहाँ प्रबन्धकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा की पूर्णरूपेण उपेक्षा की गई है, वहाँ नये युग के काव्य-बोध से भी उसे वंचित कर दिया है। तथापि उर्मिला की मन:स्थिति और वियोग-क्षणों की छवि अंकित करने में नवीन जी ने अब तक के सभी कवियों को पीछे छोड़ दिया है।

मैंने प्रारम्भ में ही कहा है कि उर्मिला महाकाव्य में नवीन जी ने मूलत: आर्य संस्कृति की विजय-यात्रा तथा उत्तर का दक्षिण से मिलन की भूमिका साधी है। इस दृष्टि से उर्मिला का छठा अथवा अन्तिम सर्ग बहुत ही महत्व-पूर्ण है। उद्देश्य की विशिष्टता के साथ कवि के वैचारिक पक्ष का जैसा सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन इस सर्ग में हुआ है, वैसा अन्यत्र किसी सर्ग में नहीं। जहाँ तक आर्य संस्कृति की व्याख्या और जन-चेतना का प्रश्न है, इस सर्ग में विशद रूप से प्रकाश पड़ा है। 'नवीन' जी के कविहृदय की कोमलता के साथ उनकी विचार शक्ति का अद्‌भुत सामंजस्य छठे सर्ग में हुआ है। कहना चाहिए कि नवीनता की दृष्टि से सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यदि किसी भी हिन्दीमहाकाव्य में सर्वोत्तम रूप से प्रकाश पड़ा है तो नवीन जी की उर्मिला का यह छठा सर्ग ही है। इस सर्ग में प्रबन्धपटुता भी है और विचार विश्लेषण भी। विवेचन की गहराई है तो कला की मार्मिकता भी। नवीन जी की उर्मिला में यदि कहीं सबसे पृथक, पूर्ण नूतन

दृष्टि प्राप्त है तो वह छठे सर्ग में ही। उदात्तता, गाम्भीर्य, कर्तव्य निष्ठा और प्रेरक-भाव इसी सर्ग में एक जुट हुए हैं। नवीन जी का विचारशील मस्तिष्क काव्य के माध्यम से यहाँ आकार पा सका है। नवीन जी के मानवतावादी दृष्टिकोण की व्याख्या इस सर्ग में बड़े विस्तार और संघटित रूप से हो सकी है। रावण-वध के पश्चात् विभीषण को राज तिलक करके राम कहते हैं—

विश्व-विजय की चाह नहीं थी,
और न रक्तपिपासा थी।
केवल कुछ सेवा करने की
उत्कंण्ठित अभिलाषा थी।
इतना था विश्वास कि हम हैं
लोकोत्तर-धन के स्वामी।
लोक हिताय बांटना जिसका
धर्म हमारा निष्कामी।
यही साधना यही कामना,
यही भावना ले मन में।
इधर-उधर विचरे हैं लेकर
यही भाव हम निर्जन में।

यहाँ नवीनजी ने एक समाज सेवक की मर्यादा के साथ कवि के युगीन संस्कार तथा समकालीन राजनैतिक प्रभाव को बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया है:—

भूमि-विजय साम्राज्य-स्थापन
यह न आर्य का ध्येय कभी।
आर्य सभ्यता छोड़ चुकी है
कब की स्मृतियाँ प्रेय सभी।

जो अपने को जग भर में, औ
जग भर में अपने को लेखे।
वह परपीड़न की स्मृति में
क्यों न आत्मपीड़न देखे।

हमें स्मरण रहना चाहिए कि नवीनजी देश के स्वाधीनता-संग्राम के एक सक्रिय सैनिक और राजनैतिक क्रांति के उद्घोषक थे। महात्मा गांधी के सेनापतित्व में सम्पूर्ण राष्ट्र स्वाधीनता का समर लड़ रहा था। गांधीवादी होने के नाते नवीनजी के शस्त्र सत्य और अहिंसा थे। सत्य का आग्रह और अहिंसा का परिपालन बीसवीं सदी की राजनीति को गांधीजी का सबसे महत्व-पूर्ण योगदान है। मानव मात्र के प्रति करुणा रखते हुए राष्ट्रीयता का संघर्ष करने वाले गांधीजी ने अपने अनुयायियों को भी वैसा ही करने को प्रेरित किया। गाँधीजी का प्रभाव राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा। गांधी विचारधारा सर्वमान्य भले ही न रही हो, परन्तु उनकी विचार-धारा और कार्य पद्धति ने देश को जगाने में अन्यतम कार्य किया और अधि-कांश देशकर्मियों के वे आराध्यदेव बन गए थे; यह एक तथ्य है। गांधी के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विचारों ने भारत में हलचल मचा दी थी। गांधीजी का प्रभाव बड़े वेग से पड़ रहा था, परन्तु यह एक अजीब-सी बात है कि गांधीविचार की सम्यक व्याख्या तत्कालीन किसी भी काव्य-ग्रंथ में नहीं हुई। उन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी का नाम तो लिया जा सकता है, परन्तु कविता के क्षेत्र में स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त, गांधी की विचार-धारा को केन्द्रविन्दु बना कर किसी उत्तम काव्यग्रंथ का प्रणयन नहीं हुआ। हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद इत्यादि के महाकाव्यों में कहीं-कहीं गाँधी विचार-धारा की झलक मिलती है। परन्तु गांधी दर्शन की स्पष्ट व्याख्या राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में सर्वप्रथम हमें नवीनजी की उर्मिला में ही प्राप्त होती है। तत्कालीन समाज और राष्ट्र सेवकों की चिंता-धारा का परिचय यदि खुले रूप में हमें किसी महाकाव्य में मिल सकता है तो वह 'नवीन' जी की उर्मिला के छठे सर्ग में। शायद इसका यह भी कारण है

कि अन्य महाकवियों का देश की राजनैतिक चेतना से उतना गहरा सम्पर्क नहीं था जितना नवीनजी का। गांधीवाद, जीवनदर्शन के रूप में उभर कर तब प्रतिष्ठित होने ही जा रहा था जब कि नवीनजी ने आर्य संस्कृति के संदर्भ में राम के माध्यम से 'उर्मिला में उसे व्यक्त किया। राम का अपने विरोधी रावण के प्रति यह कथन गान्धीजी के इस कथन का स्मरण कराता है कि अंग्रेज मेरे मित्र हैं, उनसे मेरा कोई झगड़ा नहीं। मेरा झगड़ा तो मेरे देश पर उनके स्थापित साम्राज्यवाद से है :—

महामहिम रावण का मेरा
नहीं व्यक्तिगत था झगड़ा।
आत्मवाद, साम्राज्यवाद का,
वह था अनमिल भेद बड़ा।

राम के द्वारा शस्त्र-प्रयोग के लिए खेद प्रकट कराकर अहिंसा को महत्व दिया गया है:—

एक खेद है यह शस्त्रामृत
होकर सत्य हुआ विजयी।
यदि अशस्त्र जय होती तो वह
होती पूर्ण विशुद्ध नयी।

अहिंसा के प्रमुख क्षप–हृदयपरिर्वतन–को भी नवीनजी ने विस्मृत नहीं किया:—

यही दुःख है कि मैं वीरवर
रावण-हृदय न जीत सका।
इतना भर ही नहीं रह गया
दशरथ नन्दन के वश का।

आर्य संस्कृति को नवीनजी ने आधुनिक भारतीय जन जागरण के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया। गांधीजी का रामराज्य एक प्रकार से आर्यसंस्कृति का ही नवीन और परिष्कृत रूप था। आर्य संस्कृति को विश्वमानव, सामाजिकसेवा और लोककल्याण की भित्ति पर ही नवीनजी ने प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई लड़ते हुए केवल राष्ट्र-भक्ति, उनकी उदात्त भावनाके प्रतिकूल पड़ती थी। राष्ट्रवाद उनके लिए जीवन का चरमोत्कर्ष नहीं था। राष्ट्र-भक्ति की भी सीमाएँ हैं। असीम है तो केवल मानव। मानवमात्र प्रेम का और सम्पूर्ण विश्व कार्य का क्षेत्र है। यह भी गान्धी का ही स्वप्न था। राष्ट्रीयता की लहर में मानवता का हितचिन्तन न होना उन्हें स्वीकार नहीं था। राम के मुख से ही वे गान्धीवादी विचार प्रकट करते हैः—

फैल रहा है यह भी जग में
अति मिथ्याभिमान राजन।
कि हम देश हित कर सकते हैं,
अपने प्राण त्यक्त राजन।

राष्ट्रधर्म कैसे हो सकता,
जनगण का एकान्तिक कर्म।
पक्ष समर्थन सदा राष्ट्र का,
हो सकता है निपट अधर्म।

इस प्रकार नवीनजी ने जन-जागरण के लिए राष्ट्र की सीमा को अस्वीकार करते हुए गांधीवाद के मूलमंत्र "सत्य ही ईश्वर है" को घोषित किया हैः—

सदा एक ही वस्तु पूज्य है,
वह है सत्य, असत्य नहीं।

असत् अर्चना का इस जग में
हो सकता है तथ्य कहीं ?
तत्वहीन सद्ज्ञान विमोहक
सदा अन्ध अनुकरण प्रभाव।
सत्य रहित कैसे स्वीकृत हो
यह स्वदेश पूजा प्रस्ताव ?

राष्ट्रभक्ति ही मानव का एक मात्र लक्ष्य न बने, यह कहने की आवश्यकता क्यों हुई ? नवीनजी ने इसे स्पष्ट किया है:—

कभी समूचा राष्ट्र दुष्टतामय
हो जाता है राजन ।
कभी देश का सत्य भाव सब
द्रुत खो जाता है राजन ।
जनगण पागल हो उठते हैं
जग उठता है नाशक भाव ।
निपट विकट विक्षिप्त भावना,
कर देती है सत्य दुराव ।
जनसमूह आतुर हो जाते
लगती प्रबल रक्त की प्यास ।
अपने का ही शोणित पीकर
यों करते हैं जग का नाश ।

यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये तो मानव का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, इस पर कवि कहता है:—

ऐसे क्षण में यही धर्म है,
कि हम राष्ट्र के विमुख चलें ।
फिर चाहे हम अपनों ही के,
क्रोधानल में क्यों न जलें ।

इन पंक्तियों में नवीन जी ने विभीषण के स्वदेश और स्वजन घाती कार्य को जनकल्याण की पृष्ठभूमि में दिखाकर नयी दिशा दी है। नवीन जी आसुरी, असत् पक्ष के विरुद्ध, फिर वह चाहे व्यक्ति के द्वारा हो, समाज के द्वारा हो, अथवा किसी राष्ट्र के रूप में हो, खड्गहस्त हैं। मानव, मानव को अपना परिवार और सम्पूर्ण विश्व को अपना देश माने, यह मानवीय दृष्टि नवीन जी ने उर्मिला में प्रदर्शित की है:—

देश विदेश संकुचित जन का,
है अनुचित संकुचित विचार।
है मनीषियों का स्वदेश वह,
जहाँ सत्य शिव का विस्तार।
हैं जग के नागरिक सभी हम,
सब जग भर यह अपना है।
सीमित देश विदेश कल्पना,
मिथ्या युग का सपना है।
देश काल का अतिक्रमण कर,
बनना है हमको विजयी।
फिर क्यों खींचें हम अपनी यह,
सीमा-रेखा नयी-नयी।
जो सन्मार्ग गमन करता है,
वही हमारा बन्धु सखा।
सत्य पराङ्मुख सदा त्याज्य है,
रावण हो या शूर्पणखा।

नवीन जी की वैचारिकता अग्रगामी होकर अध्यात्म में ही विलीन होती है। सत्य और सद्भावना ही जीवन की सिद्धि और लोकमंगल की अभिकामना उनका आदर्श है। नवीन जी ने दार्शनिकता और शांकर अद्वैत-वाद का भी इसमें प्रवेश कराया है। मानवतावादी दृष्टि की प्रभावशाली

प्रस्तावना ही नहीं, वरन् उसकी आध्यात्मिक व्याख्या भी उन्होंने इसमें करदी है। गाँधी का रामराज्य और विनोबा के जय जगत से नवीन जी की इन पंक्तियों की अभिन्नता है:—

आगे-आगे ध्वजा सत्य की
पीछे–पीछे जन–सेना ।

संसार भर को मानव की विचरण और कर्म भूमि मानने वाले नवीन जी ने विश्व को स्वर्गलोक बनाकर देखने की आकांक्षा प्रकट की है। यद्यपि यह कार्य सरल नहीं हैं। भौतिक, आधिभौतिक, प्राकृतिक इत्यादि अनेक बाधाएँ मानव के प्रगति रथ को रोकती हैं। किन्तु मानव न उनसे हारा है, न उनसे डरकर पीछे लौटा है। वे ज्वलन्त मानवता के संदेश वाहक हैं। उनकी मान्यता है:—

मानव की मानवता क्या है
कि वह आग से खेल करे।
नर है स्वयं अग्निचिनगारी
क्यों न अग्नि से मेल करे ?

इस सर्ग में नवीन जी ने मानव, मानवता, धर्म, संस्कृति इत्यादि को वड़े उच्च धरातल पर रखकर दिखाने का प्रयास किया है। कथोपकथन के रूप में, नीति उपदेश के रूप में, इस सर्ग में नवीन जी ने गांधी विचार दर्शन को प्रतिष्ठित किया है और इस दृष्टि से उर्मिला महाकाव्य को ऐतिहासिक महत्व की रचना बना दिया है। जीवन क्या है ? प्रश्न उठाकर उसका समाधान करते हुये परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। उनकी मान्यता है कि कर्म में कल्याण की भावना, निरलसता, स्थिरता, समता, जागरूकता, वचनों में अनिर्वचनीय क्षमता लेकर, हृदय में विश्वमुक्ति की कामना, कर में सत्य रूपी दण्ड का अवलम्ब, आँखों में सुन्दर भविष्य का स्वप्न और चरणों में अखण्ड प्रगति की शक्ति लेकर जब मानव निकल पड़ेगा तो संसार

की सुख शान्ति को कोई भी चुनौती न दे सकेगा। नर को नारायण बनाने की कल्पना ही उन्हें रुचिकर है। इसी प्रक्रिया में वे जगत की शान्ति का दर्शन करते हैं—

भौतिकता की चाह भयंकर
है जीवन विकार राजन्।
संचय नहीं, अपितु जीवन में
है नित त्याग सार राजन्।

कवि की उच्चादर्शों से भरी भावना, भौतिकता से असम्पृक्त होकर साधी जा सकती है। यहाँ पर नवीन जी की दृष्टि सामाजिक होने की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक हो गई है। आत्मदान ही उनकी दृष्टि में सर्वोत्तम दान है और विश्व शान्ति की कुंजी भी। यह तत्व आर्य संस्कृति का मूल मंत्र है जो उसने विश्व को दिया है:—

अतः आर्य संस्कृति ने जग को
दिया मंत्र स्वाहा स्वाहा
आत्म-हवन से ही मिलता है
आत्म रूप निज मन चाहा।

इस प्रकार छठा सर्ग विचार, सन्देश और उद्देश्य की दृष्टि से समकालीन महाकाव्यों में अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। उर्मिला में प्रबन्ध काव्य की दुर्बलताएँ कम नहीं हैं, और न वे नगण्य ही हैं। सच तो यह है कि 'उर्मिला' काव्य की दृष्टि से उत्तम और विचार की दृष्टि से महत्तम होते हुये भी प्रबन्ध काव्य की कोटि में रखी जाने लायक नहीं बन सकी। कवि ने मनःस्तर पर उसे रचने का दावा अवश्य किया है, किन्तु सर्वत्र उसका निर्वाह नहीं हो सका। पात्रों के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता निखर नहीं सकी। सभी पात्र जैसे कठपुतलियों की भाँति त्यागी, तपस्वी और कर्त्तव्यनिष्ठ, भावी और अमिटता के समक्ष नत शिर हो जाने वाले लगते हैं। नवीन जी ने अधिक आदर्श की प्रतिष्ठा के घेरे में पूरे काव्य को उपदेशात्मक बन जाने दिया है। उर्मिला के सभी पात्र प्रायः दार्शनिकता से बुरी तरह जकड़

दिए गये हैं। पारिवारिक चित्रण में नवीन जी स्वाभाविकता के वजाय यांत्रिकता के शिकार हो गये। सम्भवत: कवि का अपारिवारिक जीवन होने के कारण ही वे स्थल जो देवर-भाभी, भाई-भाई इत्यादि से सम्बन्धित हैं; उतने प्रभावपूर्ण नहीं बन सके हैं जैसे साकेत में बन गये हैं। उनमें घर के अन्तर की वाणी नहीं गूँजती। तृतीय सर्ग में जहाँ उर्मिला का विकास सम्भव था, वहाँ वह राम, सीता, सुमित्रा की उपस्थिति में दब गई है। 'उर्मिला' के राम भी तुलसी की भाँति परम पुरुष और ईश्वर तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं। 'उर्मिला' की मार्मिकता 'नवीन' जी के आध्यात्मिक चिन्तन से बोझिल हो गई। 'उर्मिला' का यह कथन:—

जीकर मरण दु:ख सुख जो कुछ
मिले उसी का स्वागत है,
भय किसका जब यह सब संसृति;
अलख चरण शरणागत है।

एक आवेगशून्य नारी के लिए उपयुक्त भले ही हो, उर्मिला जैसी तेजोदृप्त नायिका का स्वरूप तो कुछ दूसरे ढंग का ही उचित होता। कर्ममय जीवन, त्यागमय जीवन और बलिदानयुक्त जीवन की विवेचना को काव्य-ग्रंथ में अत्यधिक महत्व मिल जाने का कारण नवीन जी की बलिदानी तथा देश-भक्ति की भावना है। यद्यपि कला के लिए उनकी यह दृष्टि एकांगी और अनाकर्षक मालूम हो सकती है। इससे जीवन के प्रति आसक्ति का भाव तिरोहित हुआ हो सो नहीं; बल्कि जहाँ तहाँ उसके प्रति वितृष्णा-भाव का समर्थन हो गया है।

'उर्मिला' महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य की कसौटी पर कसने से निर्बल, किन्तु कुछ नई दृष्टियों, विचार और काव्यसौन्दर्य तथा मानवता की संदेश-वाहिनी काव्यकृति के रूप में बड़ी सफल रचना है।

'उर्वशी' : नवयुग की प्रतिनिधि रचना

'उर्वशी' कविवर 'दिनकर' की नये युगबोध से युक्त, सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित और मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित श्रेष्ठतम काव्य-कृति है। इसमें पुरुरवा और उर्वशी के माध्यम से नर नारी के चिरन्तन प्रेम की गाथा है। उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान प्राचीन साहित्य में वैसा ही महत्वपूर्ण है जैसा मनु और इड़ा का। मनु के आख्यान को लेकर महाकवि प्रसाद जी ने 'कामायनी' जैसे सर्वोत्तम काव्यग्रंथ की रचना की थी और उर्वशी के आख्यान का आधार ग्रहण करके वर्तमान युग के प्रतिनिधि कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'उर्वशी' जैसी उत्कृष्ट रचना का प्रणयन किया है। मनु, श्रद्धा और इड़ा की भाँति उर्वशी और पुरुरवा का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। और शतपथ ब्राह्मण में इनकी विस्तृत चर्चा हुई है। पुराणों में यह आख्यान कई रूपों में पल्लवित हुआ है तथा संस्कृतसाहित्य की एक विशिष्ट कृति के रूप में महाकवि कालिदास का 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक उपलब्ध है ही। परन्तु उर्वशी तथा पुरुरवा की कथा का जो स्वरूप प्राचीन साहित्य में है उसे, दिनकर जी ने ग्रहण नहीं किया है। दिनकर ने परम्परागत स्वरूप को छोड़कर अपने नये दृष्टिकोण से, नये संदर्भ में 'उर्वशी' की रचना की है।[1] प्राचीन साहित्य में पुरुरवा-उर्वशी की कथा एक राजा तथा अप्सरा के प्रेम और विरह, मिलन और विछोह के रूप में वर्णित है जब कि दिनकर ने उसे आधुनिक युगबोध से अभिषिक्त करके उसमें सनातन नर-नारी के

१ इस कथा को लेने में वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्तन मेरा ध्येय नहीं रहा। मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।

—भूमिका पृष्ठ ख

प्रतीक रूप में मानव की अन्तर्भावनाओं का निदर्शन कराया है तथा मानव-जीवन में व्याप्त शाश्वत काम पक्ष का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। इन्द्रलोक की अप्सरा उर्वशी और अपारशक्ति का अधिपति पुरुरवा 'उर्वशी' में प्रकृत मानव की आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं। दिनकर ने सम्राट और अमरलोक की अप्सरा की गगनगामी प्रेमगाथा को मर्त्यों की प्रेम और वासना का चिन्तन बनाकर धरती पर उतार दिया है।

सदा-सदा से मिट्टी की आकाँक्षा आकाश को छूने की और आकाश की भावना धरती को अपने में समेट लेने की रही है। युग-युग से दूर रहते हुए मिलन की यह दुःसाध्य उत्कण्ठा कभी निःशेष नहीं हुई। मानव अपने अस्तित्व में धरती का और चिन्तन में आकाश का ही प्रतिनिधित्व करता है। यथार्थ और कल्पना का द्वन्द ही तो उसके जीवन का संघर्ष है।[1] सतत संघर्ष की यह प्रक्रिया ही उसकी चेतना है। मानव युग-युग से इस संघर्ष में

---

१ पृथ्वी पर है चाह प्रेम को स्पर्श-मुक्त करने की,
गगन रूप को बाहों में भरने को अकुलाता है।
गगन, भूमि, दोनों अभाव से पूरित हैं दोनों के—
अलग-अलग हैं प्रश्न और हैं अलग-अलग पीड़ाएँ।
हम चाहते तोड़कर बन्धन उड़ना मुक्त पवन में,
कभी-कभी देवता देह धरने को अकुलाते हैं।

* * *

एक स्वाद है त्रिदिव लोक में, एक स्वाद वसुधा पर,
कौन श्रेष्ठ है, कौन हीन, यह कहना बड़ा कठिन है।
जो कामना खींचकर नर को सुरपुर ले जाती है
वही खींच लेती है मिट्टी पर अम्बर वालों को।

—प्रथम अंक, पृष्ठ ७-८

इसी लिए रत है कि उसमें, उसकी जीवनेच्छा के मूल में, काम का सागर लहराता है। दिनकर ने 'उर्वशी' में मानवजीवन के इस पहलू को पूरी शक्ति के साथ उभार कर रक्खा है।

दिनकर जी उन कवियों में अग्रणी हैं जिनकी दृष्टि सदैव उच्च धरातल पर रहती है; परन्तु यथार्थ जिनसे उपेक्षित नहीं होता। वास्तविकता से मुख मोड़कर जो कभी भी मात्र कल्पना-विलास में नहीं रम जाते। दैविक महत्ता में दैहिक आवश्यकता के सूत्र जिनके हाथ से कभी नहीं छूटते। मानव की वाह्य परिस्थितियों और आंतरिक प्रवृत्तियों के साथ जिनकी चिन्तनधारा का अटूट सम्बन्ध है; मानव जाति के प्रति जिनकी ममता गहरी और उसकी कर्मशक्ति पर जिनकी दृढ़ आस्था है; मानव को जो सृष्टि की महानतम उपलब्धि के रूप में देखते हैं। नारायण में नर बनने की शक्ति चाहे न हो; परन्तु नर में नारायण बन जाने की शक्ति अवश्य है। मानव के प्रति दिनकर की यह भावना 'उर्वशी' में मुखरित हुई है।[१] नश्वर मानव के ज्वलंत आवेगों के समक्ष उन अमरों की शीतलता का क्या महत्व है? क्षण भर की ही सही, मानव-उन्माद की तरंगों के समक्ष शान्त चिरता का क्या अर्थ है? स्पर्श से दूर युग-युग का जीवन दो दिन के धधकते हुए जीवन से सुन्दर कैसे है?[२]

---

१ नर के वश की बात देवता बने कि नर रह जाए,
रुके गन्ध पर या बढ़कर फूलों को गले लगाए।
पर, सुर बनें मनुज भी, वे यह स्वत्व न पा सकते हैं,
गन्धों की सीमा से आगे देव न जा सकते हैं।

* * *

२ क्या है यह अमरत्व? समीरों-सा सौरभ पीना है,
मन में धूम समेट शान्ति से युग-युग तक जीना है।

अमरों की गति का अन्त है। देवत्व की सीमा निर्धारित है जिससे आगे बढ़ने की उनकी स्थिति नहीं; परन्तु मर्त्यलोक के प्राणी, मानव के प्रगति-पन्थ का कहीं अन्त नहीं है। अनन्त पथ का यह पथिक कितना साहसी, कितना बलशाली और कितनी निधियों का स्वामी[1] होते हुए भी स्वयं ही कहीं-कहीं कितना दुर्बल, कितना कातर और कितना निरीह हो उठता है[2] और पुनः आशा और विश्वास की किरणोज्वल आभा से दीप्त होकर बढ़ने लगता है। मानवचरित्र का यह विचित्र संयोग ही है; परन्तु यही विचित्रता मानवजीवन की सार्थकता है, उसके प्रेम की सिद्धि है।[3]

पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधुरस पीता है,
दो दिन ही हो, पर, कैसे वह धधक-धधक जीता है।
इन ज्वलंत वेगों के आगे मलिन शान्ति सारी है,
क्षण भर की उन्मद तरंग पर चिरता बलिहारी है।

—प्रथम अंक, पृष्ठ ११

१ मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूं मैं,
उर्वशी ! अपने समय का सूर्य हूं मैं।
अंधतम के भाल पर पावक जलाता हूं,
बादलों के शीश पर स्यन्दन चलाता हूं।

—तृतीय अंक, पृष्ठ ५३

२ पर, न जाने बात क्या है ?
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बांहें मिलाकर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता।

—तृतीय अंक, पृष्ठ ५३–५४

३ मर्त्य नर का भाग्य !
जब तक प्रेम की धारा न मिलत,

भूमि पर जन्म लेकर आकाश तक पहुंचने की उत्कष्ट अभिलाषा, अनुरक्ति और विरक्ति की भावनाओं का प्रत्यावर्तन, आत्मा की उच्चता, बुद्धि का विवेक, मन की चंचलता, हृदय की पीड़ा, रक्त का ताप और त्वचा की भूख ने मिलकर पुरुष के अन्तर्द्वन्द्व को कभी भी मिटने नहीं दिया है। इनके वशीभूत होकर कभी वह ऊँचा उठने का प्रयत्न करता है और कभी नीचे की ओर खिसकने लगता है। परन्तु पुरुष की यही सबलता-दुर्बलता उसका श्रृंगार है, आकर्षण है, शक्ति है। इन्हीं के कारण तो वह देवों से बढ़कर पुरुष की महत्ता का प्रतीक बनता है।[1] मानव की इस सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत क्या है? कैसे वह लघुता और महत्ता के दोनों छोर छू लेने की शक्ति रखता है? मानव की प्रकृत भावनाएं तथा सभ्यता और संस्कृति के विकास की दीर्घ परम्परा का अध्ययन ही इसका उत्तर दे सकने में समर्थ है। सभ्यता और संस्कृति के उच्च धरातल के नीचे प्रकृत पुरुष, सहज मानव ही बैठा

आप अपनी आग में जलते रहो।
एक ही आशा मरुस्थल की तपन में
ओ सजल कादम्बिनी! सिर पर तुम्हारी छांह है।
–तृतीय अंक, पृष्ठ ५५

१ यह तो नर ही है, एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर में साधक-व्रती, पुष्प बन में कंदर्प कलित भी है।
योगी अनन्त, चिन्मय, अरूप को रूपायित करने वाला,
भोगी ज्वलंत, रमणी–मुख पर चुंबन अधीर धरने वाला।
मन की असीमता में निबद्ध नक्षत्र, पिण्ड, ग्रह, दिशाकाश,
तन में रसस्विनी की धारा, मिट्टी की मृदु, सोंधी सुवास,
मानव मानव ही नहीं, अमृत नन्दन यह लेख अमर भी है,
वह एक साथ जल-अनल, मृत्ति, महदम्बर, क्षर-अक्षर भी है।
–तृतीय अंक पृष्ठ–५७

हुआ है । इस सहज अथवा प्रकृत मानव ने, उन्नति के अनेक सोपानों को पार कर लेने के बाद भी अपनी प्राकृतिकता को भुला नहीं दिया है । इसी प्राकृतिकता में वह 'काम' के वशीभूत है । दिनकर ने इस दृष्टिकोण को 'उर्वशी' में पल्लवित तथा पुष्ट किया है । भूमिका में इस पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं:—

"मनुष्य के सारे व्यक्तित्व, समग्र जीवन का आधार उसकी जैव भावनाओं का धरातल है । यह वह धरातल है जिस पर मनुष्य और पशुओं में भेद नहीं है और यही धरातल सबसे प्रबल और सबसे प्राचीन भी है ।"

सहज प्रवृत्ति की भूमि पर पशु तथा मनुष्यों की यह अभिन्नता बौद्धिक स्पर्श से भिन्नता ग्रहण कर लेती है । आदिम पुरुष भले ही सहजता से परिचालित हुआ हो ; परन्तु विकसित मानव की गति का नियंत्रण बुद्धि से ही होता है । सहज भावना (इंस्टिंक्ट) और संबुद्धि (इनटुइशन) प्राणि-जगत में पशु और मनुष्य का भेद स्पष्ट करती है । बुद्धि और आत्मा के धरातल को अपना लेने के बाद मनुष्य परिष्कृत अवश्य हुआ है ; तथापि पूरी तरह से बदल नहीं गया है । मूलतः मनुष्य जो कुछ है वह उस सहज प्रवृत्ति, जिसका मूलाधार 'काम' अथवा सेक्स है, से भिन्न नहीं है । सेक्स अथवा काम की प्रवृत्ति का जितना व्यापक प्रसार मनुष्यों में हुआ है, वह उपेक्षा की चीज नहीं है । दिनकर ने भूमिका में स्पष्ट किया है:—

"कामशक्ति पशुजगत में आवश्यकता और उपयोग की सीमा में है । मनुष्य में आकर वह ऐसे आनन्द का कारण बन गई है जो निष्प्रयोजन, निस्सीम और निरुद्देश्यहै । वह नित्य नये नये पुलकों की रचना करती है, नयी-नयी कल्पनाओं को जन्म देती है और मनुष्य को नित्य नवीन स्फुरणों से अनुप्राणित रखती है । यह सच है कि काम के क्षेत्र में पशुओं को जो स्वाधीनता प्राप्त है, वह मनुष्यों को नहीं है । किन्तु, कामजन्य स्फुरणों, प्रेरणाओं और सुखों का जो अनन्तव्यापी प्रसार मनुष्य में है, वह कल्पनाहीन जन्तुओं में

नहीं हो सकता। और, मनुष्यों में भी जो लोग पशुता से जितनी दूर हैं, वे काम के सूक्ष्म सुखों का स्वाद उतना ही अधिक जानते हैं।''

''कामजन्य प्रेरणाओं की व्याप्तियाँ सभ्यता और संस्कृति के भीतर बहुत दूर तक पहुंची हैं'' इस तथ्य को स्वीकार करने के बावजूद दिनकरजी के इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन है कि ''किसी युवक के द्वारा किसी युवती को प्रशंसा की दृष्टि से देख लेते ही उस युवती के हाव-भाव बदलने लगते हैं, उसे पोशाक और प्रसाधन में नवीनता की आवश्यकता अनुभूत होने लगती है, उसके बोलने, चालने और देखने में एक भंगिमा उत्पन्न हो जाती है।'' यह परिवर्तन एक दूसरे में समान आकर्षण के आधार पर ही हो सकता है, एकांगिक रूप में नहीं। परन्तु ''काम की शक्ति अपरिसीम है'', यह आज का बहुर्चचित सत्य है। दिनकर जी की इस मान्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ''कला, साहित्य और विशेषत: काव्य में भौतिक सौंदर्य की महिमा अखंड है। फिर भी श्रेष्ठ कविता, बराबर भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौंदर्य का संकेत देती है, 'फिज़िकल' को लाँघ कर 'मेटा - फिज़िकल' हो जाती है। प्रेम में भी भूत से ऊपर उठकर भूतोत्तर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर अरूप का सन्धान करने की प्रेरणा होती है। अपने स्थूल से स्थूल रूप में भी, प्रेम एक मानव का दूसरे मानव के साथ एकाकार होने का सबसे सहज, सबसे स्वाभाविक मार्ग है ; किन्तु विकसित और उदात्त हो जाने पर तो वह मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है, जो धर्म का अवदान है।'' 'उर्वशी' में दिनकर जी का यह दृष्टिकोण बड़ी कुशलता के साथ वर्णित हुआ है।[1]

---

१ कवि, प्रेमी एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं,
उस अनन्त में जो अमूर्त धागों से बाँध रहा है
सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत, अदृश्य सत्ता से।

दिनकर जी ने 'उर्वशी' में समाज की उस समस्या पर भी बड़ी बारीकी से प्रकाश डाला है जो नारी के रूप में विद्यमान है। उन्होंने नारी के माता रूप की महत्ता[1] का प्रतिपादन करने के साथ उसके पत्नी और प्रेमिका स्वरूप की विषमता का मार्मिक विश्लेषण किया है।

पुरुरवा की पत्नी औशीनरी, उस नारी जाति का ही प्रतिनिधित्व करती है जिसका जीवन अपने स्वामी के प्रति सर्वस्व समर्पण की स्थिति में व्यतीत होता है। पत्नी होकर जो जीवन संगिनी कहलाती तो है, परन्तु प्रेमिका रूप के आकर्षण से वंचित होकर जिसे व्यावहारिक दृष्टि से उपेक्षित होना पड़ता है। पत्नी रूप में नारी किसी एक पुरुष के प्रति अनन्य भाव से समर्पित होकर, मानसिक सुख और शान्ति का अनुभव करने लगती है; जबकि पुरुष प्राप्त वस्तु का स्वामी बन जानेपर भी, सन्तुष्ट न होकर अप्राप्त वस्तु की ओर अधिक आकर्षित होता है।

देह प्रेम की जन्म-भूमि है, पर उसके विचरण की
सारी लीला भूमि नहीं सीमित है रुधिर त्वचा तक–
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहां रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।
तृतीय अंक पृष्ठ–६२

१ पर रंभे ! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
मां बनते ही त्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है।
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?
प्रथम अंक पृष्ठ–१९

नित नूतन को प्राप्त करने की उसकी आकांक्षा तीव्र से तीव्रतम बनती जाती है।[1] हस्तगत से निर्मोह और दूरागत से मोह पुरुष-स्वभाव की विडम्बना है।[2]

औशीनरी के इन शब्दों में—

'गृहिणी जाती हार दाँव सर्वस्व समर्पण करके'

अथवा—

पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है,
जब तक है यह दशा, नारियाँ व्यथा कहाँ खोयेंगी ?
आँसू छिपा हँसेगीं, फिर हँसते-हँसते रोयेंगी।

श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा इंगित उसी नारी की वेदना व्यक्त हुई है, जिसे लक्ष्य करते हुए उन्होंने लिखा था—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आंखों में पानी ॥ (यशोधरा)

कविवर दिनकर ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है:—

"रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का"

राष्ट्रकवि गुप्त जी नारी की इस कारुणिक स्थिति से द्रवित तो हुए; परन्तु उसके निराकरण के लिए नारी की स्वातंत्र्य-चेतना को उद्बोधन देना

---

१ 'जो अलभ्य जो दूर उसी को अधिक चाहता मन है'

* * *

वश में आई हुई वस्तु से इसको तोष नहीं है,
जीत लिया जिसको, उससे आगे सन्तोष नहीं है।

* * *

२ नयी सिद्धि हित, नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद, नव जय, नित नूतन् हर्ष चाहता है नर
करस्पर्श से दूर, स्वप्न झलमल नर को भाता है
छूक कर जिसको पी न सका वह जल नर को भाता है।

द्वितीय अंक पृष्ठ—३५

उनके लिए कठिन ही रहा। गुप्त जी ने इस समस्या को जितने मार्मिक ढंग से उठाया था उसका समाधान उनके भक्त हृदय को नहीं मिला। नारी को समाज के कठोर कर्तव्य की निर्वाहिका चित्रित करके उसका प्रशस्ति गान करके ही गुप्त जी ने सन्तोष का अनुभव कर लिया। प्रसाद जी ने कामायनी में इस समस्या को उठाया, परन्तु उनका समाधान भी गुप्त जी की भाँति आदर्शवाद से प्रभावित होकर रहस्यात्मक तथा दार्शनिक स्तर पर हुआ है। 'उर्वशी' में दिनकर जी ने इस समस्या को न केवल मार्मिक ढंग से उठाया ही है, प्रत्युत सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्रथमतः समाधान भी प्रस्तुत किया है। नारी एक साथ ही पत्नी भी है और प्रेमिका भी। दोनों ही रूप उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं। पत्नी बन जाने पर नारी में कर्तव्य निर्वाह की जिस शक्ति का उदय हो जाता है उसमें प्रेमिका की भ्रू भंगिमा दब जाती है। राज्य त्याग कर पुरुरवा के चले जाने पर औशीनरी को इसका बोध होता है।[1] औशीनरी को जहाँ इस घटना से मर्मान्तिक वेदना होती है कि उसके पति, उससे बिना कहे ही सर्वत्यागी होकर चले गये वहां उसे नारी-स्वभाव की वह उदासीनता भी वेधती है जो गृहिणी रूप प्राप्त करके भावमयी भूमिका से अलग होने लगती है। नारी की सामाजिक व्यथा के निराकरण की ओर दिनकर का यह स्पष्ट इंगित निर्देश है।

---

१ पछताती हूं हाय, रक्त आवरण फोड़ व्रीड़ा का
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझ में भी छिपी हुई थी।

२ मैं ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुष को
जिसकी उन्हें अपार क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी
मुझे भ्रान्ति थी जो कुछ था मेरा सब चढ़ा चुकी हूं:
शेष नहीं अब कोई भी पूजा प्रसून डालो में;
किन्तु हाय, प्रियतम को जिसकी सबसे अधिक तृषा थी,
अब लगता है—चूक गयी मैं वही सुरभि देने से।

पंचम अंक पृष्ठ—१६०

कर्त्तव्यपरायणा नारी का चित्रण हिन्दी महाकवियों कीपरम्परारही है। वह चाहे हरिऔध की राधा हो, गुप्त जी की उर्मिला या गोपा हो अथवा प्रसाद जी की श्रद्धा; परन्तु नये युग की नारी का भावानुकूल चिन्तन तथा छविअंकन 'उर्वशी' में हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं कि दिनकर जी ने पूर्व महाकवियों की परम्परा के विपरीत नारी को गृहिणी के दायित्व से मुक्त करके देखा है। वस्तुतः दिनकर की दृष्टि समान रूप से दायित्व और प्रेम के समन्वय पर रही है। इस दिशा में दिनकर जी ने अपने व्यापक चिन्तन के द्वारा युगबोध और परम्परा का सामंजस्य किया है। जहां उन्होंने नारी के मातृत्व को सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया है वहाँ उसमें कर्तव्यनिष्ठ गृहिणी[१] और भावनामयी-रससिक्त प्रेमिका[२] की अभिन्नता का समर्थन किया है।

दिनकर जी ने नारी को महानतम आवश्यकता के रूप में न केवल व्यक्ति के लिए प्रत्युत मानवीय धरातल पर नर के इतिहास की ज्वाला में नारी को तापरूप में, स्वीकार किया है। पुरुष की क्रिया में स्त्री प्रेरणा रूप में

---

१ इसी लिए दायित्व गहन, दुस्तर गृहस्थ नारी का।
क्षण-क्षण सजग, अनिद्र-दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहाँ है व्यथा ? समर से लौटे हुए पुरुष को,
कहां लगी है प्यास, प्राण में कांटे कहाँ चुभे हैं ?
बुरा किया यदि शुभे ! आपने देखा नहीं, नृपति के,
कहां घाव थे, कहां जलन थी, कहां मर्मपीड़ा थी ?

पंचम अंक पृष्ठ—३६

२ प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस में,
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वश में।

द्वितीय अंक, पृष्ठ ३६

छिपी रहती है। वह कार्यों का उद्गम स्रोत है।[1] मानवता का गुरुतर भार उसके कन्धों पर है।[2] सामाजिक दायित्व के संदर्भ में नारी के कर्तव्य एवं त्यागपक्ष की सम्भवत: यह सर्वोत्तम व्याख्या है:—

"बरस गया पीयूष; देवि यह भी है धर्म त्रिया का
अटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट अवघट में
तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे !
और लुप्त हो जाय पुन: आतप प्रकाश हलचल से !

* * *

त्यागमयी हम कभी नहीं रुकती हैं अधिक समय तक
इतिहासों की आग बुझा कर भी उनके पृष्ठों में।

—पंचम अंक पृष्ठ ११६

'उर्वशी' का श्रेष्ठ पक्ष नर-नारी के जैविक धरातल पर होने वाले द्वन्द्व का चित्रण है। मानव अपनी वेदना को लेकर ऊंचे और नीचे अर्थात्

---

१ इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित बस एक क्रिया पर,
किन्तु नारियां क्रिया नहीं प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं,
उद्गम स्थली अदृश्य, जहां से सभी कर्म उठते हैं।

पंचम अंक पृष्ठ १६३

२ वही बैठ संपूर्ण सृष्टि के महामूल निस्तल में,
छिगुनी पर धारे समुद्र को ऊंचा किये हुए है।

पंचम अंक पृष्ठ ११६

और देवि जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उसके भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है।

पंचम अंक पृष्ठ १६४

आकाश और पृथ्वी की खींचतान में सतत संघर्षरत है। कभी भी न मिलने वाली सफलता, किन्तु उसे प्राप्त करने की उसकी उत्कट अभिलाषा तथा असफलताओं से पराजय न मानने की उसकी प्रकृति का द्वन्द्वात्मक चित्रण 'उर्वशी' का मूल स्वर है। कभी अपरिमित अनुराग अर्थात् प्रेम और कभी अनन्त विराग अर्थात् सन्यास की भावनाओं का द्वन्द्व, मानव चरित्र के ये दो पहलू हैं और इन दोनों से युक्त मानव ही अभिनन्दनीय है। योग और त्याग, प्रेम और सन्यास, मनुष्य के अनिवार्य पक्ष हैं। इनमें किसी एक का ही समर्थन करने से मानवता का उत्थान नहीं होता। दोनों का समन्वय ही मानव सभ्यता के विकास की कथा है। दिनकर का यह कथन आचारवाद पर करारी चोट है कि "सन्यास प्रेम को बर्दाश्त नहीं कर सकता, न प्रेम सन्यास को; क्योंकि प्रेम प्रकृति और परमेश्वर सन्यास है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति, दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता"। अपनी भूमिका में "जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं।" कह कर दिनकर ने तंत्रवादी और सहजमार्गी साधना की कामात्मक प्रवृत्ति के साथ फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को भी स्वीकृति प्रदान की है। यद्यपि फ्रायड के एकांगी दृष्टिकोण का परिहार, भारतीय दर्शन की अद्वैतवादी विचारधारा तथा उपनिषद् और गीता के कर्मयोग से समन्वय द्वारा कर दिया है।

फ्रायड के विचारों का भारतीय करण करते हुए दिनकर जी ने लिखा है — "मनोविज्ञान जिस साधना का संकेत देने लगा है वह वैराग्य नहीं, रागों से मैत्री का संकेत है, वह निषेध नहीं, स्वीकृति और समन्वय का संकेत है। वह संघर्ष नहीं सहज, स्वच्छ, प्राकृतिक जीवन की साधना है। देवता वह नहीं, जो सब कुछ को पीठ देकर, सबसे भाग रहा है। देवता वह है, जो सारी आसक्तियों के बीच अनासक्त है, सारी स्पृहाओं को भोगते हुए भी निस्पृह और निर्लिप्त है।"[1]

औपनिषदिक सूत्रों में व्याप्त और गीता में विस्तार से वर्णित अद्वैत तथा निष्काम कर्मयोग की भावना की गूंज 'उर्वशी' में गहरी है।[1]—

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगती से,
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है।

*   *   *

शिखरों में जो मौन वही झरनों में गरज रहा है ?
ऊपर जिसकी ज्योति छिपा है वही गर्त्त के तम में।

*   *   *

करने दो सब कृत्य उसे निर्लिप्त सभी से होकर
लोक भीत संघर्ष और यम नियम संयमों से भी—

*   *   *

यह अकाम आनन्द भाग संतुष्ट शान्त उस जन का
जिसके संमुख फलासक्तिमय कोई ध्येय नहीं है।
जो अविरत तन्मय निसर्ग से एकाकार प्रकृति से
बहता रहता मुदित पूर्ण निष्काम कर्म—धारा में।
संघर्षों में निरत विरत पर उनके परिणामों से
सदा मानते हुए यहाँ जो कुछ भी मात्र क्रिया है।

---

१ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। ईशावास्योपनिषद् १

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्। गीता १०। ३६

मया ततमिदं सर्व जगदव्यक्त मूर्तिना।
मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्वैवस्थितः। गीता ९। ४
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि। गीता २। ४७

दिनकर जी ने 'काम' की व्याख्या संकुचित अर्थ में न करके मानव की अनिवार्य प्रवृति के रूप में की है। 'उर्वशी' में इस प्रवृत्ति को मुख्यरूप से अपना कर भी कवि ने मानव द्वारा अर्जित सभ्यता और संस्कृति की उपलब्धियों, अब तक की यात्रा के बीच स्थापित मानस्तरों, तथा जीवनानन्द भोगते हुए उपयोगिता और महत्ता, एवं अनुभवजन्य मूल्यों को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। मनुष्य में यह 'काम' प्रवृत्ति कितनी व्यापक, कितनी दाहक, कितनी चंचल और कितनी गहराई पर अवस्थित है; यह पुरुरवा के चरित्र में दृष्टव्य है।[1] तन की आवश्यकता और मन की उड़ान[2] के मध्य जो संघर्ष होता है,

---

यत: प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मण तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव:। गीता १८।४६

१ मैं मनुष्य कामना वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्द गति से प्राणों में सिहरन पुलक जगाकर ;
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से
मन का दीपक बुझा, बनाकर तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फर होता संघर्ष, तिमिर में दीपक फिर जलते हैं।

* * *

रंगों की आकुल तरंग जब हमको कस लेती है,
हम केवल डूबते नहीं, ऊपर भी उतरातें हैं,
पुण्डरीक के सदृश मृति-जल ही जिसका जोवन है
पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।

–तृतीय अंक पृष्ठ-४६

२ तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में
मन से, किन्तु विषण्ण दूर तुम कहां चले जाते हो ?
बरसा कर पीयूष प्रेम का, आंखों से आंखों में,
मुझे देखते हुए कहां तुम जाकर खो जाते हो ?

–तृतीय अंक पृष्ठ-४७

उससे मनुष्य के जीवन में जो विधा उत्पन्न होती है उसका मूल भी तो यही प्रवृत्ति है। यही तो वह आग है जो कभी शान्त नहीं होती और न मनुष्य को शान्त रहने देती है। यह आग कभी रूप के स्पर्श को ललकती है और कभी पीछे खींचती है।[1] दैहिक रूप में वस्तु को प्राप्त कर लेना प्रेम का एक पक्ष है; परन्तु आत्मा के स्तर तक खींच ले जाना उसका दूसरा पक्ष है, सार्थकता है। दिनकर के शब्दों में इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।[2] रक्त की ऊष्मा से व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं। बुद्धि के वशीभूत होकर उससे भागने की भावना भी छलना है।[3] यदि रक्त की भाषा का पठन और उसकी लिपि का विश्वास मनुष्य से

---

१ दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौंदर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है ? —तृतीय अंक पृष्ठ-४९

२ ऊपर जो द्युतिमान मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से।
तन का अतिक्रमण, यानी मांसल आवरण हटाकर,
आंखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को।
—तृतीय अंक पृष्ठ ६३

३ रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
—तृतीय अंक पृष्ठ-५९

नहीं छूटेगा[1] तो उसको कोई भी भ्रम छल नहीं सकता। बुद्धि अर्थात् कल्पना, रक्त अर्थात यथार्थ के चयन में दिनकर की दृष्टि यथार्थ को पकड़ने वाली रही है। यथार्थ की ठोस भूमि पर ही व्यक्ति खड़ा रह सकता है।

'उर्वशी' हिन्दी का प्रथम नाट्य महाकाव्य है जिसमें स्पष्ट रूप से मनः स्तर पर नर नारी के प्रेम तथा अन्तर्द्वन्दों का सर्वाधिक स्वस्थ, सफल तथा मार्मिक चित्रण हुआ है। श्रेष्ठ हिन्दीकाव्यों की शृंखला में 'कामायनी' को छोड़कर अन्य कोई भी काव्यकृति 'उर्वशी' के समकक्ष नहीं ठहरती। 'कामायनी' छायावादी युग की ही नहीं, प्रत्युत आधुनिक हिन्दी काव्य की सर्वोत्तम कृति है; परन्तु अपने युग की जिन सीमाओं के कारण 'कामायनी' के कुछ स्थल यदाकदा कमज़ोर रह गये थे, उस दुर्बलता से 'उर्वशी' मुक्त है। यह अन्तर, महाकवि प्रसाद और दिनकर जी की प्रतिभा का नहीं है; अपितु युगीन संस्कार एवं समकालीन विचारधारा का है। विषय—व्यंजना की दृष्टि से 'कामायनी' और 'उर्वशी' में समानता होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि कामायनी के छन्दविधान तथा तुकान्तता के कारण भावसम्प्रेषण में जहाँ-तहाँ भाषा का जो शैथिल्य परिलक्षित होता है वह उर्वशी में नहीं है; परन्तु उद्देश्य की महत्ता और काव्योत्कृष्टता में 'कामायनी' का स्थान अभी भी अक्षुण्ण है।

कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीयम्' की भांति 'उर्वशी' की कथा पाँच अंकों में वर्णित है। नाटकीय शैली के कारण उसमें एक विशिष्ट प्रकार की भंगिमा का समावेश हो गया है। प्रथम अंक में प्रकृति सौंदर्य, नट और सूत्रधार तथा अप्सराओं के वार्तालाप के माध्यम से अमरों और मर्त्यों की जीवनप्रक्रिया की

---

१ पढ़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो इस लिपि का
यह भाषा, यह लिपि, मानस को कभी न भरमायेगी।
—तृतीय अंक पृष्ठ-६१

चर्चा की गई है तथा अमर लोक की आनन्द वृत्ति के ऊपर मृत्युलोक के प्रेम की महत्ता प्रदर्शित हुई है। द्वितीय अंक में पुरुष स्वभाव का विश्लेषण तथा नारी के समर्पणशील पत्नीभाव का चित्रण किया गया है। तृतीय अंक में मानव के अन्तर्द्वन्द तथा राग विराग, प्रकृति और परमेश्वर, रूप और अरूप, वासना और विवेक, द्वैत और अद्वैत, देह और मन की स्थितियों का समन्वयात्मक, प्रभावशाली परन्तु आवेगयुक्त वर्णन-विश्लेषण है। 'उर्वशी' का तृतीय अंक विचार और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर है। दिनकर की किरणों की प्रखरता और उनमें व्याप्त, प्रकाश और ताप इस सर्ग में पूरी प्रभा के साथ देखने को मिलता है। नर नारी की सहज भावनाओं के फलस्वरूप जैवधरातल पर भोगने की कामना, बुद्धि से शासित होने के कारण मानव की देवोपम बनने की साध, खौलते हुए रक्त की वासना, त्वचा के स्पर्श की भूख और बुद्धि का ऊर्ध्वगामी चिन्तन, मन की चंचल धारा पर राग विराग की लहरों का उद्वेलन, भुक्ति और मुक्ति का समन्वयात्मक दृष्टिकोण इस अंक का मुख्य पक्ष है। यही दृष्टि सम्पूर्ण कृति में मूलरूप से विद्यमान है। चौथे अंक में नर-नारी के पति पत्नी स्वरूप का निरूपण, दाम्पत्य जीवन की सार्थकता महान गृहपति और आदर्श गृहिणी की छवियाँ अंकित हैं। तत्वरूप में तीसरे अंक में अंकित नर-नारी इस अंक में च्यवन और सुकन्या का आकार ग्रहण करके सामाजिक युगलता के प्रतीक बन गये हैं।

पंचम अंक में प्रेम की भौतिकता का भौतिकोत्तरता में विलय, कर्तव्य और आर्कषण की सम्मिलित शक्ति की धुरी के रूप में स्त्री की महत्ता एवं समाज में उसकी ऐतिहासिक भूमिका का उदात्त चित्रण किया गया है।

दिनकर ने 'उर्वशी' की रचना जिन सूत्रों को लेकर की है वे वर्तमान युग की मानवता के ज्वलंत प्रश्न हैं। नव्य मानवता के जो स्वर आज हिन्दी-साहित्य ही क्या विश्व-साहित्य की वीणा पर गूंज रहे हैं उनकी झंकार 'उर्वशी' में सुनी जा सकती है। भारतीय राष्ट्र और उसकी सांस्कृतिक चेतना से पूर्णतः संबद्ध रहने वाले कवि दिनकर ने 'उर्वशी' के माध्यम से विश्व-मानव की

चेतना को स्पर्श करने का स्तुत्य प्रयास किया है। जिन विद्वानों को 'उर्वशी' में उद्देश्य के दर्शन न मिलने की शिकायत हो और जिन महानुभावों को 'उर्वशी' में अश्लीलता के दर्शन होते हों उनके लिए इतना कहना ही अलम् होगा कि पहलापक्ष पुरातन ढाँचे से बाहर निकल कर नये भावबोध के स्तर पर उद्देश्य को ढूंढ़ने का और दूसरा पक्ष अभिनव मनोविज्ञान से यदि दूर ही रहना चाहे, तो कम से कम अपने संस्कृत-साहित्य की महान परम्परा को ही सामने रखकर 'उर्वशी' को देखने का प्रयत्न करे।

'कामायनी' में शैवागम के आनन्दवाद में नर नारी की चरम परणति है; किन्तु 'उर्वशी' में वह कर्मवाद की वाणी बनकर मुखरित हुई है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने 'उर्वशी' को लोकोत्तर रूपसी, स्वप्नलोक की महिमा-मयी नारी तथा विश्व प्रेयसी के रूप में देखा था[1] दिनकर जी ने इस लोको-

---

१ युग युगान्तर हते तुमि शुधु विश्वेर प्रेयसी,
हे अपूर्व शोभना उर्वशी।
मुनिगण ध्यान भाङ्दिेय पदे तपस्यार फल,
तोमारि कटाक्षघाते त्रिभुवन यौवन चंचल,
तोमार मदिर गन्ध अन्ध वायुबहे चारिभित्ते,
मधुमत्त भृङ्ग सम मुग्ध कवि फिरे लुब्ध चिते
उद्दाम संगीते।
नूपुर गुंजराओ आकुल अंचला
विद्युत चंचला।
*   *   *
स्वर्गेर उदयाचले मूर्तिमती तुमि हे उषसी,
हे भुवन मोहिनी उर्वशी।
जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदिरक्ते आँका तव चरण शोणिमा—

त्तर सौंदर्य की पूर्णतः रक्षा करते हुए उसे मानवीय स्तर पर लोक तथा लोकोत्तर प्रेम की पवित्र प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

'उर्वशी' नवयुग की प्रतिनिधि रचना अवश्य है; परन्तु मानव जीवन के यथार्थ और ऊर्ध्वगामी चिन्तन की गरिमा से मंडित होकर भी वह मानवता के संपूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करती।'उर्वशी' के लिए यह संभव भी नहीं था; क्योंकि मानव की विकासकथा के सूत्र आज जहां तक पहुंच चुके हैं, उनके आगे का मार्ग अभी वन्द नहीं हो गया है; अतः 'उर्वशी' की कथा अपूर्णता के जिस विन्दु पर जाकर समाप्त हुई है वह स्वाभाविक है। वस्तुतः 'उर्वशी' कविवर दिनकर जी की ऐसी चिन्तनप्रधान रचना है जिसमें सामाजिक दृष्टिकोण के धुंधलेपन को दूर करके वास्तविकता के आलोक से मानवजीवन को प्रकाशित करने का प्रयत्न है।

मुक्त वेणी विवसने, विकसित विश्व वासनार
अरविन्द-माझखाने पादपद्म रेखेछ तोमार
अति लघुभार।
अखिल मानस स्वर्गे अनन्त रङ्गिणी,
हे स्वप्न संगिनी ।।

—उर्वशी : रवीन्द्रनाथ

नवोदित गीतकार 'उपेन्द्र'

कवि उपेन्द्र नयी पीढ़ी का एक सर्वाधिक कोमल और भविष्य की आशाओं से परिपूर्ण गीतकार है। अपनी गीतसृष्टि में उसकी देन अन्य समकालीन कवियों से सबल, अनूठी और महत् है। कविवर 'बच्चन' जैसी भावात्मकता और भाषा का लालित्य उसमें विद्यमान है। गीत जिन विशेषताओं को लेकर श्रेष्ठ बनता है उन तत्वों का सम्यक समावेश उपेन्द्र में देखने को मिल सकता है। नयी कविता के घन-गर्जन के बीच उसकी कलम से उत्तमोत्तम गीत निकलते जा रहे हैं। कदाचित् तीन वर्ष पूर्व उसके चालीस गीतों का प्रथम संग्रह 'घटा साँवरी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इस प्रथम संग्रह को विद्वानों तथा काव्यमर्मज्ञों ने सराहा और प्रशंसा की। साथ ही इन गीतों ने उपेन्द्र को गीतकारों की नई पीढ़ी में अगली पंक्ति में बैठा दिया।

उपेन्द्र के गीतों में संस्कृत का लालित्य, अँग्रेजी की प्रगलभता और हिन्दी की सहजता एक साथ ही देखने को मिल सकती है। हृदय की अकृत्रिम भावनाएँ अपनी सुरम्यता के साथ इस कवि के गीतों में मुखरित हुई हैं।

गीतकाव्य, लोकजीवन के राग-विराग से असम्पृक्त नहीं है। बल्कि कहना चाहिये कि इसमें भारतीय जन जीवन अपनी सुकरता के साथ चित्रित हुआ है। उपेन्द्र ने अपने गहन अध्ययन से गीत को और अधिक प्राणवान तथा गरिमा मंडित करने में योग दिया है। पूर्वी तथा पश्चिमी साहित्य के प्राचीन तथा अधुनातन काव्य से सम्यक परिचय रखने के कारण उपेन्द्र के गीतों में अनायास जो उत्कृष्टता उत्पन्न हो गई है, उसने उसकी प्रतिभा को सराहनीय बना दिया है। यद्यपि उपेन्द्र की भाषा तथा रोमानी भावनाओं

पर छायावादी प्रभाव माना जा सकता है, तथापि उपमाओं, रूपकों तथा चित्रमयता के लिए वह अधुनातन काव्यक्षेत्र का अग्रणी गीतकार है। उसके प्रतीक स्पष्ट और अभिव्यक्ति पैनी है।

उपेन्द्र प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति का कवि है। उसके प्रेम में निकृष्ट वासना नहीं, अकलुष रागात्मकता है। उसके सौंदर्य में छिछली रूपसज्जा के बजाय, सहज गाम्भीर्य तथा सौंदर्य मिलेगा। उसके प्रकृति वर्णन में पतझड़ की नग्नता के स्थान पर बसन्त की श्री और शोभा दिखाई देगी। उसके गीतों में मानवमन की तरलता और उसकी शाश्वत आकांक्षाओं को वाणी मिली है। उसका प्रत्येक गीत सुगठित, भावप्रवण, स्वरताल से युक्त तथा स्वस्थ भावनाओं से परिपूर्ण है।

"मत खींचो सीमा के बन्धन
प्यार अमर श्रृंगार अमर है"
× × ×
"मेरा प्यार अखिल धरती के
यौवन का श्रृंगार है।"

'रात काली जा रही है, बीन मेरी गा प्रभाती' इत्यादि गीतों में उपेन्द्र की वैयक्तिकता, प्रेम भावनाओं में डूबती दिखायी देती है, तो कर्तव्य की भावना और सामाजिक संदर्भ में पहुँच कर वह त्यागमयी हो जाती है:—

मैं प्रगति में ले चला गतिमय चरण,
प्राण मेरे पंथ का अभिमान है।
कर्म मेरे दीप की जलती शिखा,
धर्म मेरे ध्येय की पहली दिशा,
भर नयन में भावमय अनुराग रंग,
काट लूंगा मैं अमावस की निशा,
मोह पीड़ित, सुप्त जीवों के लिए,
गीत जागृति का अमर आह्वान है।

शब्दचयन के साथ उपमाओं की छटा और रूपक का निर्वाह इस गीत में दृष्टव्य है—

सपना मेरा टूट गया।
विरह, आह ! विधि के हाथों का निष्ठुर बज्रप्रहार है।
प्रणयी के कातर प्राणों का, आतुर हाहाकार है।
विधवा की आँखों का जल है, याद विदा की कसक भरी।
माँग नियति की, गति दुनियाँ की, मन की विवश पुकार है।

* * *

प्यार एक राजा है जिसका बहुत बड़ा परिवार है।
पीड़ा जिसकी पटरानी है, आँसू राजकुमार है।
समय एक शूली है जिस पर झूला करती जिन्दगी।
जलन कैद है, रुदन बेड़ियाँ, क्रन्दन पहरेदार है।

छन्द का गठन और भाषा का प्रांजलता के साथ चित्र खींचने की सामर्थ्य भी दर्शनीय है—

साँझ हुई पंछी घर लौटे तुमने दीप जलाया होगा,
बैठी होगी शीश झुकाये, मधुर सजल सपनों की रानी,
लुटी हाट सी, बाट देखती, दुर्बलपग मतिगति दीवानी,
जाने कितनी बार द्वार तुम झाँक-झाँक कर आई होगी,
किन्तु बड़ी मुश्किल से मिलता, चातक को स्वाती का पानी,
रग-रग में रम गई उदासी, होगी साँस गले की फाँसी,
छलक पड़ी होंगी नत पलकें सहसा मुख कुम्हलाया होगा ॥

* * *

जो क्षण बीत गये जीवन के अब न मिलेंगे,
लेकिन उनकी याद रहेगी जनम-जनम तक।

याद कि जो भादों की भरी-भरी वदली-सी,
कुछ खोई-खोई-सी कुछ रोती पगली सी।
किसी विरह-वृन्दावन की व्याकुल बंशी-सी,
किसी व्यथा-सागर की चिर प्यासी मछली-सी।
यह प्राणों की प्यास गीत के रथ पर चढ़ कर,
अम्बर सी आजाद रहेगी जनम-जनम तक।

अथवा—

रे मन भूल उन्हें जीवन में
वे तेरा संग छोड़ गये जो—इत्यादि गीत पठनीय हैं।

उपेन्द्र के गीतों में मानवप्रेम और वैयक्तिक स्वाभिमान की भावना बड़े कोमल स्तर पर उभरी है—

जो बिरहिन बन बाँसुरी बजाती है,
लगती प्राणों की पीर मुझे प्यारी।
मुझको दुःख से कुछ ज्यादा प्यार नहीं,
लेकिन सुख की भिक्षा स्वीकार नहीं।
अंधियारे का भय तनिक न है मुझको,
मेरा दीपक यदि माने हार नहीं।
जो कभी हँसाती कभी रुलाती है,
मेरी वैरिन तकदीर मुझे प्यारी।

उपेन्द्र पर बच्चन का प्रभाव भी कहीं-कहीं बहुत गहरा दिखाई देता है।

यथा—

वे मधुर मधु के अमर क्षण
भूल मत जाना प्रवासी

* * *

आज रह-रह कर न जाने
क्यों तुम्हारी याद आती—जैसे गीत देखे जा सकते हैं।

इधर के कुछ गीतों में उपेन्द्र के विकासोन्मुखी स्वरूप का परिचय मिल सकता है। उसकी अनुभूति अधिक गहरी, संवेदनशील एवं तीव्र हो गई है। शिल्प-सौष्ठव के अतिरिक्त भावात्मकता एवं हृदय के मधुर स्पन्दन इन गीतों में देखे जा सकते हैं जहां उपेन्द्र का गीतकार अपनी पूरी शक्ति के साथ उभरा है—

यह वर्षा का प्रथम दिवस है,
मेरे मन ! उदास मत होना ।
देख क्षितिज की ओर मेघ की—
सहसा चढ़ती हुई जवानी ।
देख विश्व की उत्सुक आँखें,
भूल धूल - धूसरित कहानी ।
कब तक खोजेगा सुधियों में,
सुख के अर्जन और विसर्जन ?
देख धरा का हरा - भरा मुख
और गगन का प्यार सलोना ।
कल थे पश्चाताप प्रणय के
आज उमंगों की बारी है ।
कल थी सीमाहीन पिपासा
आज तृप्ति की तैयारी है ।
इस सुरम्य आनन्दोत्सव में
क्षम्य नहीं क्षण की भी देरी ।
शाप आज सारी चिन्ताएँ
पाप आज है आँख भिगोना ।
यह मेघों का मान कि जैसे
दिशा-दिशा चल चरण पखारे ।
यह मेघों की शान कि बिजली
पग-पग पर आरती उतारे ।

तू भी सीख भीख ले इनसे
कुछ गुन या निर्गुन की बातें।
और नहीं तो क्या मिलना है
तुझे यहाँ पर चाँदी-सोना ?
जल में उतर केश फैलाए
चलीं तैरती घिरी घटाएँ।
एक-एक छवि पर तुल जाएँ
कालिदास की सौ उपमाएँ।
ऐसे ही अवसर पर अक्सर
दवा दर्द उभरा करता है।
लेकिन आज नहीं चलने को
यह छलना मय जादू टोना।
मेरे मन ! उदास मत होना।

उपर्युक्त गीत में प्रकृति का मानवीकरण बड़े सधे ढंग से हुआ है और निम्नांकित गीत में प्रेमीहृदयकी व्यथा को कैसे ऊँचे स्तर पर चित्रित किया गया है, दृष्टव्य है—

याद तुम्हारी कर चुपके से आज साँझ को फिर मैं रोया।
क्षण भर में मन दौड़ गया फिर, उन भूली भटकी राहों में,
और अचानक तुम्हें पा लिया फिर मैंने अपनी बाहों में,
लहराते से मुक्त केश थे, थीं मदिरालस तिरती आँखें,
झूल रही थी देह फूल-सी सुख की चिर आतुर चाहों में,
होता नहीं कहीं धरती पर सपनों से कुछ ज्यादा सुन्दर,
इसीलिए तो हमने उनकी खातिर अपना सब कुछ खोया।
दो हृदयों का मिलन देख कर, मानो सारा जग जलता है,
पर अपने-अपने मन पर ही बोलो, किसका वश चलता है ?

जिस पर रीझे, उस पर अपना, जीवन ही अर्पित कर डाले,
यह मानव की एक चिरन्तन, एक आभागी दुर्बलता है।
कौन यहाँ जनमा धरती पर जिसने नहीं विरह दुःख देखा,
जिसने क्षण न दिये सुधियों को जिसने अपना मन न भिगोया।

कितनी हो दृढ़ता धीरज की, फिर भी दृग भर-भर आते हैं,
कितना ही कठोर संयम हो फिर भी पाँव फिसल जाते हैं।
कब रह पाया दुख अनगाया, कब रह पाई मौन प्रतिध्वनि,
भाव उधर अन्तर में उठते अक्षर इधर बिखर जाते हैं।
आज तुम्हारा रूप अलंकृत अगणित सुधियों की माला में,
उस माला में, एक फूल-सा, मैंने अपना प्राण पिरोया।

वह अनुभूति प्रखर होती है जिसकी फाँस गड़ी रह जाए,
दर्द वही असली होता है, जो प्राणों से निकल न पाए।
वह, जो रह-रह कर बहता है, फिर भी भरा-भरा रहता है,
कब जाने ढुलके जलकण-सा, कब जाने तूफान उठाए।
आज लगा होने आलोड़ित, फिर कोई करुणा का सागर,
उस सागर में, लघु गागर-सा, मैंने अपना गीत डुबोया।
याद तुम्हारी कर चुपके से आज साँझ को फिर मैं रोया।

उपर्युक्त गीत अपनी वेदना, सूक्तिमयता और संगीतात्मकता की दृष्टि से सुन्दरतम गीत है। ऐसे ही अनेक गीत उपेन्द्र की कलम से निकलते जा रहे हैं जो उसकी प्रतिभा के प्रतीक हैं। गीत में नवीनता उत्पन्न करने की सामर्थ्य ऐसी ही प्रतिभाओं में संभाव्य है। उपेन्द्र नई पीढ़ी का सर्वोत्तम गीत-लेखक तो है ही, साथ ही वह है हिन्दी-काव्य-क्षेत्र का अनन्त संभावनाओं तथा आशाओं से परिपूर्ण एक कवि, एक कलाकार।

———




प्रत्यूष
प्रकाशन











श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी

की

आगामी कृति

नया युग : नया साहित्य

इस पुस्तक में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की साहित्यिक प्रवृत्तियों मूल्यों, मानदण्डों, कृतियों और कृतिकारों का आकलन और अनुशीलन किया गया है। यह कृति विद्वान लेखक के विगत दस वर्षों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण, गहन चिन्तन, तटस्थ विश्लेषण का परिणाम है।

विगत दो दशाब्दियों में हिन्दी-साहित्य में अनेक पुरानी प्रतिभाओं ने नए मोड़ लिए हैं तथा विभिन्न क्षेत्रों में अनेक नई प्रतिभाएँ सुदृढ़ भावभूमि पर अवतरित हुई हैं। 'नया युग : नया साहित्य' में इन समस्त नए-पुराने कलाकारों के कृतित्व का सुसम्बद्ध, सुस्पष्ट विवेचन हुआ है।

वस्तुत: यह पुस्तक युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य का क्रमबद्ध समीक्षात्मक इतिहास है, नवीन साहित्यिक प्रगति का निर्मल दर्पण है, आलोचनात्मक इतिहास का सुन्दर उदाहरण है।

प्रकाशन

'साहित्यायन',

कानपुर